# जहां फूल खिलते हैं

# क्रम

◇

## इस्मत चुग़ताई

अलीगढ़ से बी० ए०, बी० टी० करने के बाद कुछ समय तक अध्यापिका रही। १९२४ ई० में शाहिद लतीफ़ से विवाह हुआ। पिछले कई वर्षों से बम्बई में हूं और साहित्यिक कामों के साथ-साथ फ़िल्मी कहानियां लिख रही हूं। कहानियों के चार संग्रह 'कलियां', 'चोटें', 'एक बात', 'छुई-मुई', दो उपन्यास 'ज़िद्दी' और 'टेढी लकीर' और एक नाटक 'धानी बाके' प्रकाशित हो चुके है।

पता : ३ इण्डस कोर्ट, फ़र्स्ट फ़्लोर, मेरिन लाइन्स, बम्बई–१

# दो हाथ

रामअवतार लाम पर से वापस आ रहा था। बूढ़ी मेहतरानी अब्बा मियां से चिट्ठी पढ़वाने आई थी। रामअवतार को छुट्टी मिल गई। जंग ख़त्म हो गई थी, इसलिए रामअवतार तीन साल बाद वापस आ रहा था। बूढ़ी मेहतरानी की चीपड़-भरी आंखों में आंसू टिमटिमा रहे थे। मारे शुक्रगुज़ारी के वह दौड़-दौड़कर सबके पांव छू रही थी, जैसे उन पैरों के मालिकों ने ही उसके इकलौते बेटे को लाम से ज़िन्दा-सलामत मंगवा लिया हो।

बुढ़िया होगी तो पचास बरस की, पर मालूम सत्तर की होती थी। दस-बारह कच्चे-पक्के बच्चे जने, उनमें से बस एक रामअवतार बड़ी मन्नतों-मुरादों से ज़िन्दा बचा था। अभी उसका ब्याह रचाए साल-भर भी नहीं हुआ था कि उसकी पुकार आ गई। मेहतरानी ने बड़ा वावैला मचाया, मगर एक न चली। और जब रामअवतार वर्दी पहनकर उसके पैर छूने आया तो बुढ़िया पर उसकी शानो-शौकत का इतना रोब पड़ा, जैसे वह कर्नल ही तो हो गया हो।

शागिर्द-पेशा नौकर मुस्करा रहे थे। रामअवतार के आने के बाद जो नाटक होने की उम्मीद थी, सब उसीपर आस लगाए बैठे थे। हालांकि रामअवतार लाम पर तोप-बंदूक चलाने नहीं गया था, फिर भी सिपाहियों का मैला उठाते-उठाते उसमें कुछ तो सिपाहियाना शान और अकड़ पैदा हो गई होगी। भूरी वर्दी डाटकर वह पुराने वाला राम-अवतरवा बिलकुल न रहा होगा। नामुमकिन है, वह गोरी की करतूत सुने और उसका जवान खून खौल न उठे। ब्याहकर आई थी तो क्या मुस-मुमी थी गोरी? जब तक रामअवतार रहा, उसका घूंघट फुट-भर लम्बा

रहा और किसीने उसके चमकते चेहरे का जलवा न देखा। जब खसम गया तो क्या बिलख-बिलखकर रोई थी, जैसे उसकी मांग का सिंदूर हमेशा के लिए उजड़ रहा हो। थोड़े दिन रोई-रोई आंखें लिए, सिर झुकाए मैल की टोकरी ढोती फिरी। फिर आहिस्ता-आहिस्ता उसके घूंघट की लम्बाई कम होने लगी।

कुछ लोगों का ख्याल है, यह सारा किया-धरा वसन्त ऋतु का है। कुछ साफ़गो कहते थे कि गोरी थी ही छिनाल। रामअवतार के जाते ही कयामत आ गई। हर वक्त 'ही-ही'! हर वक्त इठलाना! कमर पर मैले की टोकरी जमाए कासे के कड़े छनकाती जिधर से निकल जाती, लोग बदहवास हो जाते। धोबी के हाथ से साबुन की बट्टी फिसलकर हौज में जा गिरती। बावर्ची की नजर तवे पर सिकती रोटी पर से उचट जाती। भिश्ती का डोल कुए की तह में डूबता चला जाता। चपरासियों तक की बिल्लेलगी पगड़ियां ढीली होकर गरदन में झूलने लगतीं और जब यह सिर से पैर तक कयामत बनी घूंघट में से नजरों के बान फेंकती गुजर जाती तो पूरा शागिर्द-पेशा एक बेजान लाश की तरह सकते में आ जाता। फिर एकदम चौंककर वे एक-दूसरे की बदहवासी का मजाक उड़ाने लगते। उधर धोबिन मारे गुस्से के कलफ़ का कूंडा उलट देती। चपरासिन छाती से चिपटे लौंडे को बेबात धमोते जड़ने लगती और बावर्ची की तीसरी बीवी को हिस्टीरिया का दौरा पड़ जाता।

नाम की तो गोरी थी, पर थी कमबख्त बेहद काली; जैसे उलटे तवे पर किसीने पराठे तलकर उसे चमकता छोड़ दिया हो। चौड़ी फुकना-सी नाक, फैला हुआ जबड़ा। दांत मांजने का फैशन उसकी सात पीढ़ियों ने छोड़ दिया था। आंखों में पल्लियों काजल थोपने पर भी दाईं आंख का भैंगापन दूर न हो सका। फिर टेढ़ी आंख से न जाने कैसे जहर में बुझे तीर फेंकती थी कि ठीक निशाने पर बैठते थे। कमर भी लचकदार नहीं थी, खासी कठला-सी थी। जूठन खा-खाकर दुंबा हो रही थी। चौड़े भैंस के से खुरों पर जिधर से निकल जाती, कड़वे तेल की

सड़ांध छोड़ जाती। हां, आवाज में बड़ी कूक थी। तीज-त्योहार पर लहक-लहककर कजरियां गाती तो उसकी आवाज़ सबसे अलग, सबसे ऊंची चढ़ती चली जाती।

बुढ़िया मेहतरानी यानी उसकी सास, बेटे के जाते ही उससे बुरी तरह बदगुमान हो गई। बैठे-बिठाए योंही गालियां दे देती। उसपर नज़र रखने के लिए पीछे-पीछे फिरती। मगर बुढिया अब टूट चुकी थी। चालीस बरस तक मैला ढोने से उसकी कमर हमेशा के लिए एक तरफ़ लचककर वहीं थम गई थी। हमारी पुरानी मेहतरानी थी। हम लोगों के आंवल-नाल उसीने गाड़े थे। ज्योंही अम्मां के दर्द लगते, मेहतरानी दहलीज़ पर आकर बैठ जाती और कभी-कभी लेडी-डॉक्टर तक को बड़ी मुफीद हिदायतें देती। बलाओं को दूर भगाने के लिए कुछ मन्तर-तावीज़ भी लाकर पट्टी से बांध देती। हमारे घर में उसकी काफ़ी बुज़ुर्गाना हैसियत थी।

इतनी लाडली मेहतरानी की बहू यकायक लोगों की आंखों में कांटा बन गई। चपरासिन और बावर्चिन की तो बात ही और थी, हमारी अच्छी-भली भावजों के माथे भी उसे इठलाते देखकर ठनक जाते। अगर वह उस कमरे में झाड़ू देने जाती जिसमें उनके मियां होते, तो वे हड़बड़ाकर दूधपीते बच्चे के मुंह से छाती छीनकर भागतीं कि कहीं वह डायन उनके शौहरों पर टोना-टोटका न कर रही हो। गोरी क्या थी, एक मरखना लम्बे-लम्बे सींगोवाला सांड था कि छूटा फिरता था। और जब हालात ने नाज़ुक सूरत पकड़ ली तो शागिर्द-पेशे की औरतों का एक बाक़ायदा जुलूस अम्मां के दरबार में हाज़िर हुआ। बड़े जोर-शोर से उस ख़तरे और उसके भयानक नतीजों पर बहस हुई। शौहरों की हिफाजत के लिए एक कमेटी बनाई गई जिसमें सब भावजों ने बड़े जोशो-ख़रोश से वोट दिए। सारी औरतें अपनी-अपनी हैसियत के मुताबिक़ जमीन, पीढ़ों और पलंग की अदवाइन पर बैठीं। पान के टुकड़े बटे और बुढ़िया को तलब किया गया। बड़े इतमीनान से बच्चों के मुंह में 'दूध' देकर सभा

में खामोशी कायम की गई और मुकद्दमा पेश हुआ। अम्मां जज थीं।

"क्यों री चुड़ैल, तूने बहू कत्तामा को ऐसी छूट दे रखी है कि हमारी छातियों पर मूग दले? क्या मुह काला कराएगी?"

मेहतरानी तो जैसे पहले से भरी बैठी थी, फूट पड़ी, "क्या करूं बेगम सा'ब, हरामखोर को चार चोर की मार भी दई, मैं तो रोटी भी खाने को न दई, पर रांड मेरे तो वस की न!"

"अरे, रोटी की क्या कमी है उसे!" बावर्चिन ने ईंटा फेंका। सहारनपुर की खानदानी बावर्चिन, इसपर तीसरी बीवी—अकड़ थीं कि अल्लाह की पनाह! फिर चपरासिन, मालिन और धोबिन ने मुकद्दमे को और भी संगीन बना दिया। बेचारी मेहतरानी बैठी सबकी लताड़ सुनती रही।

"बेगम सा'ब, आप जैसी बताओ, वैसी करने से मोये न थोड़े ई, पर का करूं? का रांड का टेटवा दवाए दिऊ?"

टेंटवा दबाने के खूबसूरत ख्याल से औरतों में खुशी की लहर दौड गई और सबको बुढ़िया से बडी हमदर्दी पैदा हो गई।

अम्मां ने राय दी, "मुई को मैके फिकवा दे!"

"अय, बेगम सा'ब! कही ऐसा हो सके है!" मेहतरानी ने बताया कि बहू मुफ्त हाथ नही आई है। सारी उम्र की कमाई पूरे दो सौ रुपये झोंके हैं, तब जाकर मुस्टंडी हाथ लगी है। इतने पैसों में तो दो गाये हाथ आ जाती। मजे से भर कलसा दूध देतीं। पर यह रांड तो दुलत्तियां ही देती है। अगर उसे मैके भेज दिया गया तो उसका बाप उसे फ़ौरन दूसरे मेहतर के हाथ बेच देगा। बहू सिर्फ़ बेटे के बिस्तर की रौनक़ ही नहीं, दो हाथों वाली है और चार आदमियों का काम निपटाती है। रामअवतार के जाने के बाद बुढ़िया से इतना काम क्या सभालता? यह बुढापा तो अब बहू के दो हाथों के सदक़े मे बीत रहा है। औरतें नासमझ थी। मामला इखलाक़ी (नैतिक) न होकर इक़्तसादी (आर्थिक) हो गया था। दरअसल बहू का वजूद बुढ़िया के लिए बहुत जरूरी था। दो सौ रुपये का माल,

किसका दिल है कि फेंक दे ! इन दो सौ के अलावा ब्याह पर बनिये से उधार लेकर खर्च किया था। जजमान खिलाए थे, बिरादरी को राजी किया था। यह सारा खर्चा कहां से आएगा ? रामअवतार को जो तनख्वाह मिलती थी, वह सारी उधार में डूब जाती थी। ऐसी मोटी-ताज़ी बहू अब तो चार सौ से कम मे न मिलेगी। पूरी कोठी की सफाई के बाद आसपास की चार कोठियां और निपटाती है। राड, काम में चौकस है वैसे।

फिर भी अम्मां ने अल्टीमेटम दे दिया, "अगर इस लुच्ची का जल्दी से जल्दी कोई इन्तजाम न किया गया, तो कोठी के अहाते में नहीं रहने दिया जाएगा।"

बुढ़िया ने बहुत वावैला मचाया और जाकर बहू को मुह भर-भर गालियां दी। जूड़े से पकड़कर मारा-पीटा भी। वह ज़रखरीद थी, पिटती रही, बड़बड़ाती रही और दूसरे दिन बदला लेने के लिए उसने सारे अमले की धज्जिया बिखेर दी। बावर्ची, भिश्ती, धोबी और चपरासियों ने तो अपनी बीवियों की मरम्मत की ही, बहू के मामले पर मेरी सभ्य भाभियों और शरीफ भाइयों में भी खट-पट हो गई और भाभियों के मैके तार जाने लगे। मतलब यह कि बहू हरे-भरे खानदान के लिए सेह का कांटा बन गई।

मगर दो-चार दिन के बाद बूढ़ी मेहतरानी के देवर का लड़का रति-राम अपनी ताई से मिलने आया और फिर वहीं पड़ा रहा। दो-चार कोठियों में काम बढ गया था, सो भी उसने संभाल लिया। अपने गांव मे आवारा ही तो घूमता था। उसकी जोरू भी नाबालिग थी, इसलिए गौना नही हुआ था।

रतिराम के आते ही मौसम एकदम उलट-पलटकर बिलकुल बदल गया। जैसे घनघोर घटाएं हवा के झोंकों के साथ तितर-बितर हो गई। बहू के क़हक़हे खामोश हो गए। कांसे के कड़े गूंगे पड़ गए और जैसे गुब्बारे में से हवा निकल जाने पर वह चुपचाप झूलने लगता है, वैसे ही बहू का घूघट झूलता-झूलता नीचे की तरफ़ बढने लगा। अब वह बेनथे बैल की

बजाय बड़ी शर्मीली बहू बन गई। सब औरतों ने सुख की सांस ली। स्टाफ़ के मर्दुए उसे छेड़ते भी तो वह छुई-मुई की तरह लजा जाती, और ज्यादा अकड़ दिखाते तो वह घूघट में से भैंगी आंख को और तिरछा करके रतिराम की तरफ देखती, जो फ़ौरन अपने बाजू खुजलाता सामने आकर डट जाता। बुढ़िया इतमीनान से दहलीज़ पर बैठी अधखुली आंखों से यह नाटक देखती और गुड़गुड़ी पिया करती। चारों तरफ़ ठंडा-ठंडा सुकून छा गया, जैसे फोड़े का मवाद निकल गया हो।

मगर अब की बार बहू के खिलाफ़ एक नया मोरचा क़ायम हो गया और वह था स्टाफ़ के मर्दों का। बात-बेबात बावर्ची, जो उसे पराठे तल-तलकर दिया करता था, कूंडा साफ़ न करने पर गालियां देने लगता। धोबी को शिकायत थी कि वह कलफ लगाकर कपड़े रस्सी पर डालता है और यह हरामज़ादी खाक उड़ाने आ जाती है। चपरासी मर्दाने में दस-दस बार झाड़ू लगवाते, फिर भी वहां की गदगी का रोना रोते रहते। भिश्ती पहले उसके हाथ धुलाने के लिए कई मश्कें लिए तैयार रहता था; अब वह घंटों आंगन में छिड़काव करने को कहती, और वह टालता रहता, ताकि वह सूखी जमीन पर झाड़ू दे तो चपरासी धूल उड़ाने के जुर्म में उसे गालिया दे सके।

मगर वह सिर झुकाए सबकी डांट-फटकार एक कान से सुनती, दूसरे कान से उड़ा देती। न जाने सास से क्या जाकर कह देती कि वह कांय-कांय करके सबका भेजा चाटने लगती। अब उसकी नज़र में बहू बड़ी नेक और पारसा हो चुकी थी।

फिर एक दिन दाढ़ीवाले दरोगाजी, जो सब नौकरों के सरदार और अब्बा के खास अहलकारों में समझे जाते थे, अब्बा के हुजूर मे हाथ जोड़े हाजिर हुए और उस भयानक बदमाशी और गंदगी का रोना रोने लगे, जो बहू और रतिराम के नाजायज़ तअल्लुक़ से सारे शागिर्द-पेशा को गंदा कर रही थी। अब्बा ने मामला सैशन सुपर्द कर दिया, यानी अम्मां के हवाले। औरतों की सभा फिर से जुड़ी और बुढ़िया को बुलाकर उसके लत्ते

लिए गए :

"अरी निगोड़ी, ख़बर भी है, यह तेरी बहू कत्तामा क्या गुल खिला रही है ?"

मेहतरानी ने ऐसे चुंधराकर देखा, जैसे बेचारी कुछ नहीं समझती कि किसका जिक्र हो रहा है। और जब उसे साफ़-साफ़ बताया गया कि आखों-देखे गवाहों का कहना है कि बहू और रतिराम का नाजायज तअल्लुक हद से बढ़ गया है, दोनों बहुत ही अफ़सोसनाक हालत में पकड़े गए हैं, तो बुढ़िया बजाय अपनी बेहतरी चाहने वालों का शुक्रिया अदा करने के बुरी तरह बिगड़ी। बड़ा वावैला मचाने लगी कि रामअवतार होता तो उन लोगों की ख़बर लेता, जो उसकी मासूम बहू पर तोहमत लगाते हैं। बहू बेचारी तो अब चुपचाप रामअवतार की याद में आसू बहाया करती है। दोनों काम-काज भी जान तोड़कर करते है। किसीको शिकायत नहीं होती। ठठोल भी नही करती। लोग नाहक़ उसके दुश्मन हो गए हैं। बहुत समझाया, मगर वह मातम करने लगी कि सारी दुनिया उसकी जान के पीछे पड़ गई है। आखिर बुढ़िया और उसकी मासूम बहू ने लोगों का क्या बिगाड़ा है ! वह तो किसीके लेने में है न देने में। सबकी राजदार है, आज तक किसीका भांडा नही फोड़ा। उसे क्या जरूरत जो किसी-के फिट्टे में टांग अड़ाती फिरे। कोठियों के पिछवाड़े क्या नहीं होता ?

उसका गुस्सा देखकर फ़ौरन छुरी दबाने वालों के हाथ ढीले पड़ गए। सारी औरतें उसका साथ देने लगीं। बहू कुछ भी करती थी, उनके अपने किले तो महफ़ूज थे। तो फिर कैसी शिकायत ? फिर कुछ दिनों के लिए बहू के इश्क की चर्चा कम हो गई। लोग कुछ भूलने लगे, मगर ताड़ने वालों ने ताड़ लिया कि दाल में कुछ काला है। बहू का भारी-भरकम जिस्म भी दाल के काले को ज्यादा दिन तक न छुपा सका और लोग बड़े जोश से बुढ़िया को समझाने लगे। लेकिन वह थी कि इस बारे में बिलकुल उड़नघाइयां बता रही थी—बिलकुल ऐसी बन जाती जैसे बहुत ऊंचा सुनती हो। अब वह ज्यादातर खाट पर लेटी बहू और रतिराम पर हुकुम

चलाया करती। भली बीबियों ने उसे बहुत समझाया, "रतिराम का मुह काला कर। इससे पहले कि रामअवतार लौटकर आए, बहू का इलाज करवा डाल। तू खुद इस फ़न में माहिर है। दो दिनों में बहू की सफ़ाई हो सकती है।" मगर बुढ़िया ने कुछ समझकर ही नहीं दिया। इधर-उधर की शिकायतें करने लगी कि उसके घुटनों में पहले से ज्यादा ऐंठन होती है; और कोठियों में लोग बहुत ही बादी चीजें खाने लगे हैं, वगैरा। समझाने वाले जलकर खाक हो गए।

रामअवतार का आने का इन्तिजार था। बुढ़िया हर वक्त बहू को धमकिया देती रहती थी, "आने दे रामअवतार को, खानगी, तोरी हड्डी-पसली एक कर दई है।" मगर लोगो को बड़ी उलझन हुई, जब बहू ने लौंडा जना। बजाय उसे जहर देने के, मारे खुशी के बुढिया की बाछें खिल गईं। रामअवतार के जाने के दो साल बाद पोता होने पर उसे बिलकुल तअज्जुब नहीं हुआ। घर-घर फटे-पुराने कपड़े और बधाई समेटती फिरी। उसका भला चाहने वालों ने उसे हिसाब लगाकर बहुत समझाया कि यह लौंडा रामअवतार का हो ही नहीं सकता, मगर बुढ़िया ने क़तई यह बात न मानी। उसका कहना था, असाढ़ में रामअवतार लाम पर गया, जब बुढ़िया पीली कोठी के अंग्रेज़ी ढंग के संडास में गिर पड़ी थी। अब चैत लग रहा है और जेठ के महीने में बुढ़िया को लू लगी थी, मगर बाल-बाल बच गई थी। तभी उसके घुटनों का दर्द बढ़ गया। "वैदजी पूरे हरामी हैं, दवा में खरिया मिलाकर देते हैं।" इसके बाद वह बिलकुल असल सवाल से हटकर पागलों की तरह औल-फ़ौल बकने लगती। किसके दिमाग में इतना बूता था कि वह बात उस काइयां बुढ़िया को समझाता जिसे न समझने का वह फ़ैसला कर चुकी थी।

लौंडा पैदा हुआ तो उसने रामअवतार को चिट्ठी लिखवाई, "रामअवतार को बाद चुम्मा-प्यार के मालूम हो कि यहां सब कुशल है और तुम्हारी कुशलता भगवान से नेक चाहते हैं। और तुम्हारे घर में पूत पैदा हुआ है। सो तुम इस खत को तार समझो और जल्दी से आ जाओ।"

लोग समझते थे, रामअवतार मारे गुस्से के पागल हो गया होगा। मगर सबकी उम्मीदों पर पानी फिर गया जब उसका खुशी से भरा खत आया कि वह लौंडे के लिए मोज़े और बनियान ला रहा है।

जंग खत्म हो गई और बस अब वह आने ही वाला था। बुढ़िया पोते को घुटने पर लिटाए खाट पर बैठी राज किया करती। भला इससे ज्यादा खूबसूरत बुढ़ापा और क्या होगा कि सारी कोठियों का काम तुरत-फुरत हो रहा हो, महाजन का सूद पाबंदी से चुक रहा हो और घुटने पर पोता सो रहा हो।

खैर, लोगों ने सोचा रामअवतार आएगा, असलियत मालूम होगी, तब देख लिया जाएगा। और अब रामअवतार जंग जीतकर आ रहा था। आखिर को सिपाही है। क्यों न खून खौलेगा! लोगों के दिल धड़क रहे थे। शागिर्द-पेशे का माहौल (वातावरण), जो बहू की तोता-चश्मी की वजह से ठंडा पड़ गया था, दो-चार खून होने और नाकें कटने की आस में गर्म हो उठा था।

लौंडा साल-भर का होगा, जब रामअवतार लौटा। शागिर्द-पेशे में खलबली मच गई। बावर्ची ने हांडी में ढेर सारा पानी झोंक दिया, ताकि इतमीनान से भुचैटे का मज़ा ले। धोबी ने कलफ़ का बरतन चूल्हे से उतारकर मुंडेर पर रख दिया और भिश्ती ने डोल कुएं के पास पटक दिया।

रामअवतार को देखते ही बुढ़िया उसकी कमर से लिपटकर चिघाड़ने लगी, लेकिन दूसरे ही लम्हे खीसें काढ़े लौंडे को रामअवतार की गोद में देकर ऐसे हंसने लगी जैसे कभी रोई ही न हो।

रामअवतार लौंडे को देखकर ऐसे शर्माने लगा जैसे वही उसका बाप हो। उसने झटपट संदूक खोलकर सामान निकालना शुरू कर दिया। लोग समझे, खुखरी या चाकू निकाल रहा है; लेकिन जब उसने उसमें से लाल बनियान और पीले मोज़े निकाले, तो सारे अमले की मर्दानगी पर बड़ी ज़बरदस्त चोट लगी। हत् तेरे की! साला सिपाही बनता है!

हीजड़ा जमाने-भर का ! !

और वह ! सिमटी-सिमटाई जैसे नई-नवेली दुलहन हो, कांसे की थाली मे पानी भरकर रामअवतार के बदबूदार फ़ौजी बूट उतारे और चरण धोकर पिए।

लोगों ने रामअवतार को समझाया, फब्तियां कसीं, उसे गावदी कहा; मगर वह गावदी की तरह खीसें काढे हंसता रहा, जैसे उसकी समझ में कुछ न आ रहा हो। रतिराम का गौना होने वाला था, सो वह चला गया।

रामअवतार की इस हरकत पर तअज्जुब से ज़्यादा लोगों को ग़ुस्सा आया। हमारे अब्बा भी, जो आम तौर पर नौकरों की बातों में दिलचस्पी नही लिया करते थे, भिन्ना गए। अपनी सारी क़ानूनदानी का दाव लगाकर रामअवतार को क़ायल करने पर तुल गए :

"क्यों बे, तू तीन साल बाद लौटा है ना ?"

"मालूम नहीं हुज़ूर, थोड़ा कम-ज्यादा···इत्ता ही रहा होगा।"

"और तेरा लौंडा साल-भर का है।"

"इत्ता ही लगे है सरकार, पर बड़ा बदमास है, ससुर !" रामअवतार शर्माया।

"अबे, तो हिसाब लगा ले।"

"हिसाब ? हिसाब का क्या लगाऊं सरकार ?"

"उल्लू के पट्ठे, यह कैसे हुआ ?"

"अब जे मैं का जानूं सरकार···भगवान की देन है।"

"भगवान की देन है तेरा सिर ! यह लौंडा तेरा नहीं हो सकता।"

अब्बा ने उसे चारों तरफ़ से घेरकर क़ायल करना चाहा कि लौंडा हरामी है, तो वह कुछ-कुछ क़ायल हो गया। फिर मरी हुई आवाज़ में बेवक़ूफ़ों की तरह बोला, "तो अब का करूं सरकार ? हरामजादी को मैंने बड़ी मार दई।" वह ग़ुस्से से बिफरकर बोला।

"अरे, निकाल बाहर क्यों नही करता कमबख़्त को ?"

"नहीं सरकार, कहीं ऐसा हो सके है !" रामअवतार घिघियाने

लगा ।

"क्यों बे ?"

"हुजूर, ढाई-तीन सौ फिर दूसरी लुगाई के लिए कहां से लाऊंगा ? और बिरादरी जिमाने पर सौ दो सौ अलग खर्च हो जावेंगे ।"

"क्यों बे, तुझे बिरादरी क्यों खिलानी पड़ेगी ? बहू की बदमाशी का तावान तुझे क्यों भुगतना पड़ेगा ?"

"जे मैं न जानू सरकार ! हमारे में ऐसा ही होवे है ।"

"मगर लौंडा तेरा नहीं, रामअवतार...उस हरामी रतिराम का है। " अब्बा ने तंग आकर समझाया ।

"तो का हुआ सरकार...! मेरा भाई होत है रतिराम । कोई बेगाना नहीं, अपन खून है ।"

"निरा उल्लू का पट्ठा है !" अब्बा भिन्ना उठे ।

"सरकार, लौंडा बड़ा हो जावेगा, अपना काम समेटेगा ।" राम-अवतार ने गिड़गिड़ाकर समझाया, "दो हाथ लगावेगा, सो अपना बुढ़ापा तीर हो जावेगा !" शर्म से रामअवतार का सिर झुक गया ।

और न जाने क्यों एकदम रामअवतार के सिर के साथ-साथ अब्बा का सिर भी झुक गया । जैसे उनके दिमाग पर लाखों-करोड़ों हाथ छा गए हों । ये हाथ हरामी हैं न हलाली । ये तो बस जीते-जागते हाथ हैं जो दुनिया के चेहरे पर से गदगी धो रहे है । उसके बुढ़ापे का बोझा उठा रहे हैं ।

ये नन्हे-मुन्ने मिट्टी में लथड़े हुए सियाह हाथ धरती की माग मे सिंदूर सजा रहे हैं ।

## हाजरा मसरूर

मध्यम वर्ग के एक घराने में, एक युवा माता तथा शिक्षा समाप्त करके नौकरी की प्रतीक्षा में बैठे हुए पिता के घर तीसरी बेटी के रूप में मेरा जन्म हुआ। यह मूर्खता (जो मेरे वश में न थी) मुझसे पुराने लखनऊ के एक पुराने-से घर में हुई थी।

जिस प्रकार हमारे यहां के करोड़ों बच्चों का बिना किसी चाव-चोंचले के पालन-पोषण होता है, उसी प्रकार मेरा भी हुआ। पिता सरकारी नौकरी में थे इसलिए बचपन यू० पी० के छोटे-बड़े क़स्बों में गुजरा।

मेरी माता जहां साहित्यिक पत्रिकाएं और पुस्तकें पढ़तीं,

वहां समाचारपत्र पढ़ना भी जरूरी समझती थीं। संध्या समय छोटे-मोटे सरकारी अफ़सरों और क़स्बे के भद्रपुरुषों का जमघटा लगता तो पूरे संसार की राजनीति पर मेरे पिता जोर-जोर से बोलते और बहस करते। वहीं 'पतरस', 'अज़ीम बेग चुग़ताई' और 'प्रेमचन्द' की बातें होतीं। सबसे बढ़कर 'इक़-बाल' के बारे में बातचीत होती। रातों को पिता बिस्तर पर लेटते तो बड़े-से लैम्प के प्रकाश में वे कोई कहानी, कोई व्यंग्य-लेख या इतिहास का कोई परिच्छेद पढ़कर सबको जरूर सुनाते। यह था वह बचपन जो पिता के जीवन में व्यतीत हो रहा था। फिर एकदम जवानी में ही पिता का देहांत हो गया और मुझे लगता है कि बस उसी क्षण से मैं समझदार हो गई। बड़े कष्ट झेले। जो अपने कहे जाते हैं उन्हें पराया देखा, जो पराये कहे जाते हैं उन्हें अपना पाया। जीवन में बहुत कुछ करने का विचार था, लेकिन परिस्थितियों ने ऐसी ठोकरें लगाईं कि भविष्य धुंधला गया। जब कुछ न कर पाने का ग़म सीमा को पहुंच गया तो लिखना शुरू कर दिया। कलम और कागज़ ही आसानी से मिल सकते थे, इसलिए उसीपर बस चला। यह वह आयु थी जब लड़कियां अभी अपनी गुड़ियां छोटी बहनों को प्रदान करने की बजाय अपने बक्सों में छुपाकर रखती हैं। मुझे याद है कि दिल्ली की प्रसिद्ध पत्रिका 'साक़ी' में जब हमारी (मेरी और बहन ख़दीजा मस्तूर की) कहानियां पहली बार स्वीकार कर ली गईं तो हमने बड़ी दानशीलता से अपनी गुड़ियां अपनी बहनों को दे दीं और बेतहाशा लिखना शुरू कर दिया। जब भी मेहनत करती थी, अब भी मेहनत करती हूं लेकिन ख़ूब

जानती हूं कि अभी वह मंज़िल दूर है जहां किसी लेखक को पहुंचना चाहिए।

१९४७ में अपने ख़ानदान के साथ भारत से लाहौर आ गई। १९४८ में श्री अहमद नदीम क़ासमी के साथ मिलकर 'नुकूश' निकाला। १९५० में बड़े परम्परागत ढंग से अहमद अली खां (सम्पादक 'पाकिस्तान टाइम्स') से शादी हो गई। दो छोटी-छोटी बच्चियों की मां हूं और अब आयु के उस काल में हूं जिसमें स्त्रियों को सारे सन् तो याद रहते हैं लेकिन वे अपने जन्म का सन् भूल जाती है। यह स्थिति आम तौर पर पाव सदी गुज़रने के बाद से शुरू होती है।

अब तक कहानियों के पांच संग्रह 'चर्के', 'हाय अल्लाह', 'चोरी-छुपे', 'अंधेरे-उजाले' और 'तीसरी मंजिल' प्रकाशित हुए हैं। नाटकों का एक संग्रह भी छप गया है—'वो लोग'।

पता : ३७ ए०, जेल रोड, लाहौर (पाकिस्तान)

# मोल-तोल

मेरे एक हाथ मे मुंशी फाज़िल के कोर्स की किताबें थीं और दूसरे हाथ मे फुटपाथ पर बिखरे हुए नाक, थूक के बुलबुलों से बचाए हुए गरारे के पांयचे। सामने से बस आ रही थी जो मुझे 'पंजाब से इम्तिहान पास कराने की गारंटी देने वाले कालेज' तक पहुंचा सकती थी। बन्दर रोड का ट्रैफ़िक और फिर शाम का वक्त ! मैं अंधा-धुंद बसस्टाप की तरफ़ जाने के लिए सड़क पार करने लगी और उसी वक्त किसीने मेरे दुपट्टे का पल्लू पीछे से खेंचा—जब से यह मुंशी फ़ाज़िल पास करने का सिल-सिला हुआ था और मुझे घर से अकेले आने-जाने की इजाजत दे दी गई थी, इस क़िस्म की बातें कई बार हो चुकी थीं। मेरे भाईजान ने कई बार मुझे समझाया था कि कराची में अल्लाह की मेहरबानी से एक से एक नाज़ुकमिज़ाज और पुराने ख्यालों के गुंडे पनाहगजी (शरणार्थी) पहुंच चुके हैं, इसलिए जहां तक हो सके ऐसी हरकतों पर सब्र करके अपनी राह लग लिया करो; वरना अगवा हो जाने से लेकर छुरी खाने तक की नौबत आ सकती है। लेकिन मैं जो बड़े फ़र्राटे से जनाना रिसालों से रटे हुए औरतों की आज़ादी वग़ैरह के फ़िक़रे बोल सकती थी, भला कैसे चुप रह जाती ?

दुपट्टा खेंचे जाने पर मैंने पलटते-पलटते ज़ोर से गाली दी, "उल्लू !" और जब आखें फाड़कर गुस्से से इधर-उधर देखा तो वह कोई बदमाश उल्लू नहीं गुल्लू मियां थे।

"अरे, हाय गुल्लू मियां !" मेरे मुंह से निकला और हम दोनों एक तेज़रफ़्तार ट्राम की लपेट से बचकर और एक बड़ी-सी अमरीकन कार से कन्नी कतराकर सड़क पार कर गए।

ज़ाहिर है कि मेरी बस जा चुकी थी। गुल्लू मियां हैरानी से घूर-घूरकर मेरी तरफ देख रहे थे। मुझे जरा मजा आया। मैं समझ गई कि मेरे अच्छे कपड़ों, लापरवाही से सिर पर पड़े दुपट्टे और खुले मुंह से गुल्लू मियां पर काफ़ी रोब पड़ चुका है। मैंने बड़ी शान से अपनी किताबें पहलू में संभालीं।

"कराची आकर आप तो बिलकुल बदल गईं बट्टो आपा !" गुल्लू मियां ने ज़रा घबराकर कहा।

"हा, मगर तुम तो बिलकुल नहीं बदले !" मैंने ज़रा नफ़रत-भरी बेपरवाई से जवाब दिया। असल में उस वक्त मुझे गुल्लू मियां के मुंह से 'आपा' सुनकर तकलीफ़ हुई थी। लखनऊ में वह लड़का-सा था—मुझसे एक साल छोटा; लेकिन अब पूरा मर्द हो चुका था और मैंने मुशी फ़ाज़िल के इम्तिहान के लिए फार्म भरते वक्त अपनी उम्र सिर्फ़ सोलह साल की लिखी थी। पुराने जानने वाले जब किसी नई जगह मिलते है तो वे तकलीफ़देह भी हो सकते हैं, इसका एहसास मुझे उस वक्त बुरी तरह हुआ।

मैंने बन्दर रोड पर दूर तक नज़र दौड़ाई कि कोई बस आ रही है या नहीं।

"आप तो स्कूल जाने लगीं बट्टो आपा ?" गुल्लू मियां ने सादगी से पूछा।

"नहीं, कालेज जाती हूं।" मैंने 'कालेज' पर ज़ोर दिया और फिर बस को आता देखकर मुझे एकदम गुल्लू मियां पर रहम आ गया। वह कितने प्यार से मुझसे सवाल कर रहा था और मैंने अब तक उसका हाल-चाल भी न पूछा था !

"कब आए···और सब कहां है ?" आखिर मैंने पूछ ही लिया।

"ऐ लो, आपको लखनऊ से खबर नही मिली ? मै तो अम्मा और बाजी को लेकर छः महीने से पाकिस्तान आया हुआ हूं। वहां भाईजान से तो आपको मालूम है, हमारी···" गुल्लू मियां बात बढ़ा रहे थे और

बस करीब आ रही थी।

"हाय अल्लाह! बस क़रीब आ गई। तुम ज़रूर हमारे यहां आना गुल्लू मियां! पता लिख लो···अच्छा ठहरो, मैं देती हूं पता···" मैंने जल्दी से एक किताब खोली, क्योंकि मुझे याद आ गया था कि मेरे पते का एक ईदकार्ड पन्नों में निशानी के रूप में इस्तेमाल हो रहा था। "यह लो, इस-पर घर का पता लिखा हुआ है···ज़रूर आना···अच्छा!" मैंने कहा और कार्ड गुल्लू मियां को थमाकर जल्दी में बस में सवार हो गई।

बस चल पड़ी तो मुझे ख़्याल आया कि मैंने यह मालूम किए बग़ैर गुल्लू मियां को अपने घर का पता दे दिया है कि उनके पास रहने का ठिकाना है या नहीं। दो-एक बार ऐसा हो चुका था कि तीन कमरों के हमारे फ़्लैट में इसी तरह कई-कई महीने के लिए पाकिस्तान आने वाले अज़ीज़ रिश्तेदार आकर मेहमान रह चुके थे। उनमें से एक ने तो हमारा आधा फ़्लैट अपने नाम अलाट कराने की भी स्कीम बना ली थी। इसके बाद अम्मा का हुक्म था कि ऐसी हमदर्दी बन्द। नये मुल्क में पुराने क़ायदे बरतकर कोई खुद बेघर होता है! मैं डरी, लेकिन फिर सोचा कि गुल्लू मियां छः महीने से यहां हैं, कहीं होंगे ही, सड़क पर तो न बैठे होंगे। जो हो, अम्मा के ख़्याल से मुझे उलझन-सी हो गई। मैंने घर पहुंचकर गुल्लू मियां के जिक्र के साथ दबी ज़बान से अपनी पता देने वाली हिमाक़त का भी ज़िक्र कर दिया।

लेकिन हमारे सब अंदेशे जाते रहे, क्योंकि गुल्लू मियां हमारे यहां पहुंचे ही नहीं—और मुझे न जाने क्यों दुख-सा हुआ।

गुल्लू मियां दूर के रिश्ते से मेरे भाई होते थे। मुझे याद है कि जब उनके अब्बा अयाज खां जिन्दा थे तो उन लोगों की अच्छी-खासी गुजर-बसर होती थी। अयाज खां थे तो मामूली-से सरकारी नौकर, लेकिन उनका रख-रखाव ऐसा था कि मालूम होता खासे खुशहाल लोग हैं। उनके मरने से कुछ साल पहले जब दूसरी जंगे-अज़ीम छिड़ी और पैट्रोल का तोड़ा हुआ तो उन्होंने कहीं से एक पुरानी मोटर सस्ते दामों खरीद

डाली। यह मोटर अयाज़ खां के पुराने घर की ड्योढ़ी में खड़ी पैट्रोल के तोड़े का रोना रोती नजर आती। अयाज खां उसी तरह अपनी पुरानी साइकल पर दफ़्तर आते-जाते। कभी-कभार जब वे अपने किसी रिश्ते-दार के यहां जाते तो यह मोटर जरूर इस्तेमाल होती और इस तरह खानदान वालों पर सख्त रोब पड़ता। वैसे तो खानदान में सभी उनसे जलते थे, लेकिन उनसे मिले बिना भी किसीको चैन न आता था। अयाज खां के बड़े लड़के शहबाज़ खा ने जब बी० ए० पास किया तो रिश्ते-दारों के घर-घर इस पूरे खानदान की दावतें हुई। आखिर हर घर में कुवारी लड़किया अच्छे लड़कों के इन्तजार में बैठी लू की अम्बियों की तरह पीली हो रही थीं—और शहबाज बी० ए० पास कुवारा था। वैसे शहबाज के साथ मेरे भाईजान ने भी बी० ए० उसी साल पास किया था, मगर उनकी पूछ कहीं न हुई। मेरी अम्मां ने अपनी सोने की अंगूठी रहन रखकर शहबाज और उसके घरवालों को दावत दी—वो लोग मोटर में बैठकर हमारे टूटे-फूटे घर मे आए। मुझे याद है, सारा दिन सिल पर मिर्च-मसाले रगड़ते-रगड़ते मेरे हाथ सुर्ख होकर सूज गए थे और मैं पानी के कटोरे में हाथ डाले शाम तक कोठरी में बैठी यही सोचती रही थी कि आज क्या पहनूं ! जब शहबाज (जिन्हे सब शब्बू मियां कहते) अपने अब्बा, अम्मां और भाई-बहन के साथ दस्तरख्वान पर बैठे तो मैंने तनहाई में किवाड़ की ओट से उन्हें कई बार झांका। शहबाज का मामूली-सा सावला चेहरा और सीधे-सादे बाल मुझे कितने अजीब लगे थे !

अम्मां ने मुझे आवाज देकर बुलाया था कि आओ, शर्माओ नही। सबके साथ आकर खाना खाओ। उस दिन अम्मां बड़ी आज़ादख्याल हो गई थी, क्योंकि शहबाज़ के अब्बा अयाज खां, जाहिर है, कि आज़ादख्याल थे। जभी तो उनकी बेटी ज़ोहरा मुस्लिम स्कूल के नवें दर्जे में पढ़ती थी और जो उस दिन हमारे यहां सबके साथ बैठी चमचे से पुलाव खा रही थी। जी हां, चमचे से ! वो चमचे जो हमने खास तौर से इस दावत के लिए पड़ोसिन से मांगे थे।

उस रात बहुत देर तक अम्मां चारपाई पर लेटी पंखा झल-झलकर भाईजान से बातें करती रहीं—बातें क्या, बस यही कि बट्टो के लिए शब्बू मियां और मेरे भाईजान के लिए जोहरा खूब जोड़ रहेंगे—हालांकि बाद में सुना कि शब्बू मिया का रिश्ता पहले ही अयाज़ खां अपने एक दाढ़ी वाले अफ़सर की बेटी से तै कर चुके हैं।

अयाज़ खां आखिर रख-रखाव के आदमी थे। वो जानते थे कि क्या चीज़ कहां सजेगी और मोटर में पैट्रोल न हो तो छकड़ा और मोटर बराबर है। जिस तरह चालाक दुकानदार भाव-ताव करने की बजाय अपनी चीजों को सजाकर रखता है और उनपर क़ीमत-कार्ड लगा देता है, इसी तरह उन्होंने अपनी ड्योढ़ी पर मोटर का झूमर सजाया और जैसे अपने बच्चो की क़ीमत लगा दी। लेकिन जब अयाज़ खां हार्ट फ़ेल हो जाने से अचानक चल बसे, तो इस एक चिंगारी से सारी रौनक़ सुल्फ़ा हो गई। पुरानी मोटर दूसरे ही दिन उस्ताद सिद्दीक़ की गेराज में पड़कर गाहक फसने का इन्तज़ार करने लगी। यही नही कि बात यहां खत्म हो जाती, उस्ताद सिद्दीक़ ने ड्योढ़ी पर आकर भरे रिश्तेदारो में अन्दर कहलवाया :

"बहन ! खां साहब तो दिल की दिल में ले गए, शब्बू मियां तो खैर से बी० ए० पास हैं, लेकिन गुल्लू मियां बेचारे अब किसके सहारे पढ़ेंगे ! अभी उनका लड़कपन है, मेरी गेराज मे आएंगे तो इन्शा-अल्लाह हुनर सिखा दूंगा।"

लेकिन उस्ताद सिद्दीक़ की यह हमदर्दी गुल्लू मियां की अम्मां के दिल पर चोट दे गई। या तो औरतों मे खड़ी रो रही थी या कड़ककर बोलीं, "ऐ, क्या कमी है घर में ? अल्लाह रखे, मेरा गुल्लू बी० ए० छोड़ एम० ए० पास करेगा ! विलायत जाएगा। सिद्दीक़ से कहना, बेगम कहती हैं कि तुम तो बस मोटर बिकवा दो। यह उनकी यादगार मुझे रुलाती है। अल्लाह मेरे बेटों की उम्र दराज़ करे, वो नई मोटरें ले लेंगे !"

यह तेवर देखकर सब लोग ठंडे पड़ गए। लेकिन इसपर भी जब तक

हम लोग लखनऊ में रहे, हमने उनकी ड्योढ़ी सूनी ही देखी।

शब्बू मियां अपने ससुर के ज़ोर से जल्द ही तरक्क़ी के वायदे पर क्लर्क लग गए। गुल्लू मियां ने लुढ़क-लुढ़ककर मैट्रिक पास कर लिया और उनकी बहन ज़ोहरा तो अपने अब्बा की जिन्दगी में ही मैट्रिक थर्ड डिवीज़न में पास कर चुकी थी और जैसाकि उसकी अम्मां कहती थीं 'अब घरदारी सीख रही थी घर बैठी।'

उन दिनों हम लोग उनके घर ज़्यादा जाते थे क्योंकि शब्बू मियां की दुलहन जहां बच्चे पैदा करने में तेज थीं वहां घर का भांडा फोड़ने में भी अपनी मिसाल आप थीं। वे हमेशा हर आने-जाने वाले से ये शिकायतें करती रहतीं कि 'हमारी तो क़िस्मत फूट गई....' उनके घर आए दिन दांता-किलकिल रहती और रिश्तेदारों को लुत्फ़ आता। गुल्लू मियां की अम्मां, जो अब भी बड़ी सफाई से इस रख-रखाव की ओट में वेल-बूटे काढ़ा करतीं, वे दम के दम में खसोटकर फेंक दिए जाते। ज़ोहरा कोनों में सिर झुकाए चुपचाप बैठी घरदारी सीखती रहती और गुल्लू मियां वेकार पड़े चारपाई पर करवटें बदला करते या फिर हम जैसे रिश्तेदारों से अपने घरेलू मामलों पर बातें किया करते।

फिर दिल्ली में दंगा हो गया और हम लोग पाकिस्तान चले आए—भाईजान कालेज में लैक्चरर हो गए और हम जैसे पिछली सब तकलीफ़ें भूल गए। मुझे वे शब्बू मियां कभी याद न आए, जिन्होंने दावत हमारे यहां खाई थी और शादी कहीं और की थी, जिन्हें मैंने किवाड़ की ओट से बड़े अरमानों के साथ झांका था और ख़याल ही ख्याल में जिनके बच्चे को अपना दूध पिलाया था...और अब तो यही बात अजीब-सी मालूम हुई कि बच्चों को दूध पिलाया जाए। हमारे फ़्लैट के अड़ोस-पड़ोस की कई औरतें बच्चों को वोतल के दूध पर कैसे मज़े से पाल रही थीं! आख़िर—मुझे अपनी तब्दीलियों के ख्याल से जो खुशी होती थी, वह पुराने जानने वालों और रिश्तेदारों से मिलकर और भी चमक जाती—फिर अगर गुल्लू मियां के न आने से मुझे दुःख-सा हुआ तो कोई अजीब बात न थी।

एक दिन मैं और भाईजान कही जाने के लिए घर से निकले तो गुल्लू मियां को बदर रोड पर मुह उठाए जाते पकड लिया।

"अरे, गुल्लू मिया ! वाह, आए क्यों नही ? हमने तुम्हारा इतना इन्तजार किया।" मैंने कहा।

"फुर्सत ही नही मिली। फिर सोचा, जाने आपको भी फ़ुर्सत होगी या नही।" गुल्लू मिया के चेहरे पर यह शिकायत बड़ी भली लगी।

"अरे वाह, जैसे तुम ग़ैर हो !" मैंने तुनककर कहा।

सचमुच उस पहली मुलाकात पर मैं बिलकुल अपने खोल (सीमा) मे रही थी और शायद गुल्लू मिया अब ऐसी बातों को पहचानने लगे थे। जो हो, भाईजान ने उनकी अम्मा और बहन का हाल पूछकर दोबारा उनका दिल जीत लिया। मालूम हुआ कि नई नुमाइश वाले मैदान में झोंपड़ी डाले पड़े हैं और बाक़ी सब खैरियत है। भाईजान ने काम के बारे में पूछा तो चहककर बोले, "एलाटमैण्ट मे इंस्पैक्टर हो गया हूं।"

उनका यों सीधे-सुभाव यह कहना मजा दे गया। फिर हम उन्हें अपने फ्लैट पर ले आए। अम्मां हमेशा की तरह लखनऊ वालों को देखकर वतन की याद में रोने लगीं और गुल्लू मियां ऐसी मोहब्बत से उनके गले लगकर साथ रोए कि मेरी आंखें भी भर आईं। हालांकि मुझे लखनऊ कभी इस तरह याद न आया था कि रो सकू।

एक प्याली चाय के बाद गुल्लू मियां ने वायदा किया कि वे हम लोगों को अगले इतवार अपने यहां ले जाएंगे। सो हम लोग अपनी नई जिन्दगी जैसे अपने ऊपर ओढ़कर वहां गए और गुल्लू मियां हमे यों अपने ठिकाने पर ले गए जैसे हम सब बड़ी क़ीमती चीजें हों। जमीन के एक काफ़ी बड़े टुकड़े को कछोर की चटाइयों से घेरकर उन्हीं चटाइयो और टीन की चादरों से दो कमरे, बावर्चीख़ाना, गुसलख़ाना और पाख़ाना बना लिया गया था। बाहर बड़ी शान से गुल्लू मियां के पूरे नाम और ओहदे की तख्ती लगी हुई थी।

उनकी अम्मां बेचारी को ज़माने ने बहुत झुका दिया था, फिर भी

उनके कपड़े साफ़ थे और घर की हर चीज़ से सलीक़ा टपकता था। गुल्लू की बहन ज़ोहरा पहले की बजाय ज़्यादा दुबली और पीली हो गई थी। लेकिन अपना पढ़ा-लिखा जताने के लिए खूब कसकर दो चोटियां गूथ रखी थीं, जिसके कारण उसका चेहरा और भी दुबला और पीला लग रहा था। जब हम धुली हुई दरी और सफेद चादर पर आलती-पालती मारकर, पुरानी चीनी के खूबसूरत सैट में चाय पीने बैठे तो मैंने देखा कि ज़ोहरा पकौड़ों पर चटनी डालकर बड़े अंदाज से पकौड़े खा रही थी। उनकी अम्मां काफी खुश नजर आ रही थीं और बार-बार बता रही थीं कि यहां झोंपड़ियों में बड़े-बड़े अमीर लोग रहते हैं। लेकिन हम लोग फिर भी उनसे हमदर्दी करने से न चूके—उन्हें देखकर बार-बार उनके मियां के ज़माने की कई बातें उछल-उछलकर दिल पर जो लगती थी। अगर वे अपना दुखड़ा रोतीं तो शायद हम ऐसा न सोचते। हां, गुल्लू मियां इतने सीधे थे कि हमारी सारी हमदर्दियां दोनों हाथों से समेटते रहे।

"ऐ है, क्या वक्त पड़ा है आपपर—वह लखनऊ का जमाना याद आता है!" हमारी अम्मां ठंडी सांस भरकर बोलीं।

"हां, मगर खुदा गुल्लू मिया को सलामत रखे, इनके जो अफ़सर हैं वो इनके अब्बा के हाथ तले काम कर चुके हैं। बड़ा लिहाज़ रखते है। बड़ी इज्जत करते है—फिर सिर्फ़ गुल्लू मियां की तनख्वाह ही तो नहीं है, खां साहब के वक्तों की कमाई भी चुकते-चुकते चुकेगी।" गुल्लू मिया की अम्मां अपने सोने के झुमके सिर के झटके से झुलाकर बोलीं।

"मगर अम्मां, ये आपके चंद ज़ेवर तो बाजी के लिए हैं—मैं तो कहता हूं, इन्सान अपनी बांहों की ताकत पर भरोसा रखे, और बस। अब देखिए, जो हम कराची आए तो न पैसा था न नौकरी—शब्बू भाई कहते थे कि अक्कड़फ़ू में कराची चले हो, उलटे पांव लौटोगे। लेकिन देखिए, जिस अल्लाह ने मुंह चीरा है, वह खाने को भी देता है। नीयत नेक चाहिए—शब्बू भाई की तरह थोड़े कि···" गुल्लू मियां कहते-कहते रुक गए, क्योंकि उनकी अम्मां घर के भेद खुलते देखकर उन्हें घूर रही थीं।

ज़ोहरा क चेहरे का रंग सफ़ेद पड़ गया और गुल्लू मियां मशीनगन की तरह तड़तड़ाने लगे।

"क्यों, जब तक मैं जिन्दा हूं बाजी को तकलीफ़ करने की क्या जरूरत है ! अब्बा ने इन्हें इस ख्याल से थोड़ी पढ़ाया था कि नौकरियां करें !" मारे जोश के गुल्लू मिया का चेहरा गहरा सांवला हो गया और होंठ कांपने लगे जैसे भाईजान ने उन्हें गाली दे दी हो। भाईजान ने काफ़ी सफ़ाई की और बताया कि जाती तौर पर वे औरतों की आज़ादी के कितने कायल है, मगर गुल्लू मियां अड़े रहे।

"जनाब, हम चटनी-रोटी खाते हैं महीने के आख़िर में, लेकिन बाजी भला नौकरी क्यों करें······?" गुल्लू मियां कह गए और उनकी अम्मां का चेहरा सुन गया। वे बेबसी से गुल्लू मियां की तरफ़ देखती रहीं जो उनसे और हम सबसे अलग थे, जैसे नाज़ुक कांच के दर्मियान दक्खनी पहाड़ों से निकला हुआ पत्थर का ठोस स्याह टुकड़ा। दिल के एक कोने में गुल्लू मियां मुझे कुछ बड़े-से लगे।

गुल्लू मियां अगर सच्चे थे तो इसलिए कि वे अभी छोटे ही थे कि उनके अब्बा चल बसे। वह रख-रखाव, वह दूसरों से छुपाकर तकलीफ़ उठाना उन्होंने न सीखा था। जब उन्हें समझ आई तो खाने की मेज़ सुथरे मेजपोश से सजी रहती। गुलदानों मे नीम की टहनिया ज़ोहरा रोज़ बदलती, लेकिन कुर्सियों पर शब्बू मियां की दुलहन जिद से अपने नन्हे के पोतड़े डालकर जरूर सुखातीं और सब बावर्चीख़ाने में घुसकर गिनी हुई चपातियां, नाम को बघारी हुई दाल और पोदीने की चटनी से छू-छूकर उकड़ूं बैठकर खा लेते। उनकी अम्मां ज़लकर बहू को सुनाने को कहा करती कि अरे बस यहीं खा लो बैठकर। कौन-से पुलाव-कोरमे खाने हैं जो मेज़-कुर्सी पर बैठा जाए—बेकार में मेज़पोश मैला करने से क्या फ़ायदा !

लेकिन जब घर में कोई रिश्तेदार पहुंच जाता तो अरहर की खिचड़ी भी चीनी के डोंगे में सजाई जाती और मेज़ पर रखकर खाई जाती, और

आने वाले पर बार-बार यह जताया जाता कि वाह, अरहर की खिचड़ी जब तक हफ़्ते में एक बार न खाई जाए, ज़िन्दगी का लुत्फ़ ही क्या ! लेकिन यह दोरुखापन गुल्लू मियां पर से ऊपर ही ऊपर निकल गया । उन्हें तो मालूम था कि शब्बू भाई की तनख्वाह थोड़ी है और उनके यहां बच्चे हर साल होते हैं । भाभी हमेशा क़िस्मत को रोती है । अम्मां और बहन, जो अंधेरी कोठरियों में छुपकर रोती हैं, तो योंही नहीं रोतीं । उनकी यह सादगी, यह खरापन मुझे योंही-सा भला मालूम होता । वैसे भी वे मुझसे कुछ दबे-दबे-से रहते थे और इसीलिए मुझे अपना-आप उभरता महसूस करके बड़ी खुशी होती थी । वे हर इतवार को हमारे यहां आते। और सब चाहे 'बोर' होकर अलग जा बैठें, मगर मैं उनसे गप-शप मे लगी रहती । अम्मा ने कई बार कहा कि 'देखो, गुल्लू मिया को इतना मुंह न लगाओ । कल कहीं यह न चाहने लगें कि तुम्हारा भाई उनकी बहन को समेट ले । नैं भई, तुम्हारा भाई माशा अल्लाह प्रोफ़ेसर है, अच्छी से अच्छी दौलतमन्द लड़की मिल जाएगी उसे ।'

अम्मां की ऐसी बातों पर मैं चिढ़ जाती और गुल्लू मियां के घराने की हिमायत करने लगती और झट से शब्बू मिया की दावत वाला ताना देती । एक बार इस बात पर पिटते-पिटते बची । लेकिन जब मैं ठंडी पड़कर सोचती कि आखिर गुल्लू मियां के आने पर मैं अपना वक्त क्यों बर्बाद करती हूं, उसकी बजाय बैठकर मुन्शी फ़ाज़िल का कोर्स क्यों नहीं रटती, तो बात वही अपने-आपके उभरने की निकलती । गुल्लू मियां को किसी बात पर क़ायल करके मुझे अजीब-सी तस्कीन होती—जैसे मैं बहुत ऊंची हूं, बहुत ही ऊंची । वे मेरी बातें इस तरह बिछ-बिछकर सुनते कि मुझे नशा-सा महसूस होता । भाईजान तो मुझे [illegible] कभी मेरा नोटिस न लेते थे । रहीं अम्मां, [illegible] उनके आगे मेरी एक न चलती थी । सिर्फ़ गुल्लू मियां थे जो मुझे दुनिया-जहान का फ़ाज़िल समझते थे और ज़रा-ज़रा-सी बात में मेरा मशविरा लेते थे । यहां तक कि अपने दफ़्तर के छोटे-मोटे झमेलों तक में मेरी ऊटपटांग राय पर अमल करते
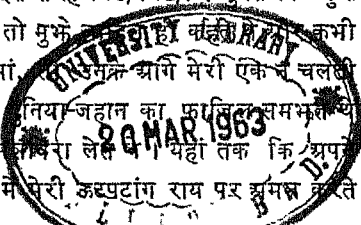
और मुझे यों मालूम होता जैसे मैं सादगी के ठाठें मारते समन्दर में रोशनी का मीनार बनकर खड़ी हूं।

लेकिन उस दिन मुझे महसूस हुआ जैसे मेरी रोशनियां बुझ गई हों और वे काले, दुबले-पतले-से गुल्लू मिया (जिन्हें कोई अहमियत न देने के ख्याल से हम आपस में 'गुल्लू' कहा करते थे) जैसे अपनी कमजोर टांगों पर लड़खड़ाकर एकदम से मेरे होशो-हवास पर तनकर खड़े हो गए हों! मेरी बातचीत के झरने एकदम सूख गए।

"आं गुल्लू मिया!" मैंने मुन्शी फ़ाज़िल के कोर्स की दीवार का सहारा लेकर बड़ी मुश्किल से आवाज निकाली। आंखें झपक-झपककर मैंने उन्हें देखा। वे गुल्लू मिया हैं या कोई और···? मगर ये वही थे—वही सुरमई सर्ज की शेरवानी, जिसे लखनऊ मे शब्बू मियां पहना करते थे और जो अब आखिरी दमों पर थी; वही दुबला-पतला, गहरा सावला लड़का, जिसकी चमड़ी के नीचे पीलापन झलक मारता (जिसे देखकर कई बार मुझे मेंढक का ख्याल आया था), खूब घुघराले बाल, जिनमे शायद ही कभी तेल डाला जाता था। वे उसी तरह मेरी पुरानी बेढंगी मेज़ की दूसरी तरफ मुशी फ़ाजिल के कोर्स की दीवार के पीछे बैठे थे— यानी गुल्लू मिया! और मुझे लगा, जैसे मेरी गोद से कोई नन्हा-सा बच्चा उतरकर फ्लैट की सीढ़ियां उतरकर सड़क पर टहलने निकल गया हो। बड़ी देर की बेतुकी खामोशी के बाद मैंने गले से कोई अनजानी चीज उतारकर सिर्फ इतना कहा:

"सच···गुल्लू मियां···आ?"

"और क्या झूठ बट्टो आपा···देखिए ना!···" उन्होंने मुझे उंगली उठाकर समझाया, "अपनी बांहों की ताकत पर भरोसा करना चाहिए।"

मैं उनके इस भरोसे से जल गई। मेरा जी चाहा, किताबें उठाकर परे पटक दू और मुझे लगा कि अब तक गुल्लू मियां जिस तरह मुझसे दबे-दबे-से रहते थे, वह बिलकुल बनावट थी; वरना यह किस्सा इतने दिन से चल रहा था, मुझसे जिक्र तो करते। मैं चुप रह गई।

"देखिए ना बट्टो आपा—वह बेचारी औरत थी—फिर ईमान सबसे बड़ी दौलत है न ! वह मेरे इनकार पर बहुत हैरान हुई। उसने मुझे अपने ड्राइंगरूम में बिठाया, चाय पिलाई और कहने लगी, 'इंस्पैक्टर साहब ! आप बहुत नेक आदमी हैं, हमारे घर आया करो।'—अल्लाह क़सम बट्टो आपा, उसका ड्राइंगरूम इतना बड़ा था, इतना शानदार, जैसा फ़िल्मों मे होता है !" गुल्लू मियां ने मुझे तफसील से बताना शुरू किया। मैंने झट से बात काटी और जल्दी से अपनी राय देनी शुरू कर दी :

"मगर देखो ना, गुल्लू मियां !······भई, क्या हिमाक़त थी, जब लाखों के सौदे पर पांच हज़ार मिल रहे थे तो छोड़े क्यों ? यह दुनिया का धंधा तो इसी तरह चलता है। फिर तुम्हारे हालात ! मुझसे तो पूछा होता।"

"हूं ! भला, यह भी कोई पूछने की बात थी ! यह तो मैं खुद भी जानता हूं कि नेकी क्या है और बदी क्या है। अच्छा, अब चलूं, फ़ातिमा बाई के घर मेरी दावत है।" यह कहकर गुल्लू मियां एकदम यों खुले दरवाजे की तरफ़ बढ़े कि मैंने उनकी फटीचर शेरवानी की फड़फड़ाहट साफ़ सुनी।

मुझे दुःख हुआ कि मैंने जल्दी में बात कहकर गुल्लू मियां के सामने खुद को गिरा लिया। फिर गुस्सा भी था—मैं यह बात भला कैसे मान लेती कि वे पांच हजार रुपये गुल्लू मियां के लिए कुछ हैसियत न रखते थे जो उन्हें एक जायज रिपोर्ट लिखने के बदले में मिल रहे थे—एक घटिया से इस्पैक्टर के लिए जिसकी बड़ी बहन कुंवारी थी। इन पांच हज़ार रुपयों के जहेज़ पर तो मेरी अम्मां भी ज़ोहरा को अपनी बहू बनाने पर राज़ी हो जातीं। ये पांच हजार रुपये खनखना-खनखनाकर मेरे सामने गिर रहे थे, जिनकी धार के पीछे रंगीन साड़ियां, ज़ेवर और हजारों जरूरतें मुंह खोले बैठी थीं और उन सबसे मुह फेरे गुल्लू मियां चले जा रहे थे—वे गुल्लू मिया जिन्हें बढ़ते क़द के दिनों में खाने को गिनकर चपातियां मिलती थीं और खाने के बाद जिनका गिलासों पानी पी-पीकर पेट भरना खानदान-भर में

मशहूर था। मुझे रह-रहकर दुःख हो रहा था कि गुल्लू मियां से क्या हिमा-कत की ! कोई और होता तो वे रुपये ले लेता। शायद मैं भी—मगर नहीं, मैं तो न लेती—गुल्लू मियां को जरूर ले लेने चाहिए थे—मगर उन्हें तो मेरे मशविरे की जरूरत ही नहीं रही—बड़े आए सुकरात बनकर !

मगर रात को जब मैं सोई तो गुल्लू मियां के साथ न जाने कहां से रोशनी ही रोशनी उमड़ आई। एक बार मैंने देखा, उनके घने बालों में जुगनू ही जुगनू हैं। दूसरी बार यह देखा कि उनके गिर्द चिंगारियां-सी उड़ रही हैं। मैं उछल-उछल पड़ी। मैं तो गुल्लू मियां को सिर्फ़ गुल्लू समझना चाहती थी। यह रोशनी वगैरा उनके हिस्से में देखना मेरे बस का रोग न था।

फिर उन्होंने बहुत खोलकर एक बात बताई, और वह यह थी कि फातिमा आई ने तो उनकी नेकी और शराफत को पसंद किया था, उसकी बेटी शीरी तो उनसे मोहब्बत करने लगी थी। शीरी ने उन्हें खत लिखा था कि 'मैं तो तुम ही से शादी करूंगी—तुम दौलत को कुछ नहीं समझते और मेरी बिरादरी वाले दौलतमन्द होने के बावजूद मुझसे सिर्फ़ दौलत हासिल करने के लिए शादी करना चाहते हैं······मगर तुम······'

यह चिकना-चिकना, गीला-गीला किस्सा सुनकर मुझे बिल्कुल यकीन न आया।

"तो फिर उसके बाद तुम्हारी आंख खुल गई ?" मैंने जलकर पूछा।

"वल्लाह, आप तो······वाह···!" गुल्लू मियां ने जैसे चोट बचाई। और फिर एकदम उनका चेहरा गहरा उनाबी हो गया। वे एक मिनट रुके बिना चले गए।

मैंने जिन्दगी में पहली बार उन्हें इतना नाराज़ देखा था। मुझे उन-पर रहम आ गया।

घर में सब उनके यों आने और फिर एकदम चले जाने पर जरा हैरान हुए। मैंने यह बता देना जरूरी समझा कि बेवकूफ लड़का कराची आकर किस तरह दौलत फट पड़ने के ख्वाब देखने लगा है। बड़े कहकहे

पड़े ।

भाईजान जो नफ़सियात (मनोविज्ञान) के लैक्चरर है, एकदम गंभीर होकर बोले :

"वह पांच हजार का क़िस्सा भी बट्टो, अहमियत हासिल करने के लिए घड़ा गया मालूम होता है ! यह गुल्लू फ़ालतू वक्त में अभी तक बच्चों की किताबें पढता है; जभी तो नेकी के फल के सपने देखता है !" फिर वे एकदम कड़ी आवाज़ मे मुझसे बोले, "मेरा ख्याल है बट्टो, यह गुल्लू तुम्हारे बारे में सोचता है। बेहतर है कि तुम इसे मुंह लगाना छोड़ दो। आखिर तुमसे ऐसी बातें करने का क्या मतलब है ?"

"वाह, भाईजान—आप तो···" मैं एकदम झेंप गई। दिल में सोचा, 'शायद···शायद······' और मुझे इस ख्याल ही से अपनी हतक का एहसास हुआ। मैंने सोचा, 'अब मैं इस उल्लू-गुल्लू से बात भी न करूंगी।'

लेकिन मुझे काफ़ी दिनों तक इसका मौका ही नहीं मिल सका, क्योंकि उस दिन के बाद गुल्लू मियां हमारे यहां आए ही नहीं—आए भी तो उनकी शादी के सुनहरे छपे हुए दावतनामे···

पहले तो हम सब सन्नाटे मे आ गए, उसके बाद अम्मां ने बड़ी धीमी आवाज़ मे ठंडी सांस भरकर सिर्फ़ इतना कहा, "अल्लाह ! कराची मे तो हर चीज़ का मोल है ! मेरे बच्चों की भी क़िस्मत खोलियो !"

"ऊंह !" भाईजान सिगरेट सुलगाते हुए अपने कमरे मे चले गए और मैं अपने सन्दूक़ पर सिर झुकाकर सोचने बैठ गई कि इस मौके पर क्या पहनूं ? आख़िर बड़े घर में दूल्हे की बहन बनकर जाना है और फिर उलझन मे मेरी आंखे भर आईं। सारे कपड़े मामूली थे।

हम सब दूल्हे के रिश्तेदारों की हैसियत से बारात में गए। बारात इतनी शानदार थी कि हमें यकीन आ गया कि गुल्लू के अब्बा जरूर कोई खज़ाना छोड़ मरे थे। गुल्लू की अम्मां तो खुशी से मरी जा रही थीं। उन्होंने अम्मां को देखकर हाथ फैला दिए, "ऐ बहन, तुम्हें मुबारिक ! तुम्हारे भतीजे का क्या जोड़ से जोड़ मिला है—बुरा चाहनेवालों के मुह में खाक !

आओ बहन, आकर 'बरी' देखो। कोई कसर तो नहीं रह गई? तुम तो हमारा खून हो, हमारा भला देखकर खुश होने वालों में।" गुल्लू की अम्मा मेरी अम्मा के गले से लगकर रिकार्ड की तरह बजने लगीं और मेरी अम्मा बेचारी खिसियाकर दुआएं देने लगीं। इसके बाद वे ऐसे अपनापे से 'बरी' का सामान देखने लगीं कि अगर सचमुच कोई कसर रह गई तो खुद उनकी हेटी होगी। इस काम से निबटकर उन्होंने जल्दी में झोंपड़ी के दरवाजे पर भाईजान को बुलाया और चिल्लाकर कहने लगीं, "बेटा, जल्दी से गुल्लू मियां के पास जाओ। देखो, 'शहबाला' तुम्हीं बनना। तुम्हारा हक है।" फिर जब अम्मां उधर से पलटीं तो भड़कीले कपड़ों वाली जोहरा को उन्होंने 'मेरी बच्ची' कहकर गले से लगा लिया—जैसे बिलकुल बौखला गई हों।

वाकई यह बौखलाहट की बात थी। इतने ठाट की 'बरी' थी। ऐसे-ऐसे कपड़े और जेवर कि मेरी आंखें भी चुंधिया गईं। हमारी हैरानी देख-देखकर गुल्लू की अम्मा अपने सुघड़ापे और रुपया बचा-बचाकर रखने की चर्चा करती रहीं। कराची में जितने भी दूर-नजदीक के रिश्तेदार या जान-पहचान के लोग थे, सभी मेहमान थे और सभी पानी-पानी। कई औरतें इस बात पर हैरान थीं कि अब तक उनकी अक्ल कहां चरने चली गई थी जो गुल्लू मियां अपनी बिरादरी से बाहर दामाद बनकर चले गए।

मगर जब भाईजान के साथ मैं भी दूल्हा की कार में घुस पड़ी और दबी-दबी नजरों से गुल्लू मियां के चेहरे की तरफ देखा तो दिल ने कहा—ये गुल्लू मियां! अच्छे-भले नमकीन-से तो हैं। बचपन में जब सब बच्चे इकट्ठे होते थे, तो कई बार मैं इनकी झूठ-मूठ की दुलहन भी तो बनी थी।—"क्यों गुल भैया! तुमने हमें गैरों की तरह ठीक शादी के दिन क्यों बुलाया? बेचारी ममानी ने अकेले कैसे सारा इन्तजाम किया होगा?" मैंने नाज से होंठ लटकाकर कहा।

"अरे नहीं बट्टो आपा, ये सब तैयारियां भला अम्मां कैसे कर सकती

थी ! सारा सामान तो मेरी सास ने भिजवाया है। मैंने तो कह दिया था कि मैं आपकी शान के मुताबिक कुछ न कर सकूंगा—तो उन्होंने कहा, हम सब सामान तुम्हारे घर पहले भेज देंगे, तुम वह अपने साथ ले आना। सच कहता हूं, मुझे यह सुनकर बड़ा गुस्सा आया। मैंने जवाब दिया कि मुझे यह बात पसन्द नहीं। मैं गरीब आदमी हूं, गरीबों की तरह ब्याहने आऊंगा। मगर उन्होंने मेरे आगे हाथ जोड़े कि हमारी बिरादरी वाले वैसे ही गैर लोगों में शादी के खिलाफ़ हैं। बहुत कम बिरादरी वाले आएंगे, वे भी इसलिए कि तुम घर-दामाद होने वाले हो। ये चीज़ें हम अपनी बेटी को देते हैं, तुम्हें क्या एतराज़ है—हमारी इज़्ज़त रख लो। फिर मुझे रहम आ गया। मैंने उनकी बात मान ली। ठीक किया ना मैंने ?"

"बिलकुल !" मैंने बेध्यानी से गुल्लू मियां की तरफ देखा। फूलों से लदे वे मुझे बड़े काले नजर आए।

एक शानदार कोठी में एक निहायत शानदार बैंड के शोर में गुल्लू मियां की शादी की रस्म अदा हो गई। निकाहनामे में यह शर्त थी कि दूल्हा दुलहन को उसके घर से न ले जा सकेगा और खुद दुलहन के घर में रहेगा। सलामी में गुल्लू मियां को ग्यारह हज़ार रुपये पेश किए गए, जो उन्होंने नहीं लिए।

फ़ातिमा बाई, जो बम्बई के एक व्यापारी की बेवा थी, अपने कौमी लिबास में बड़ी शान से मेहमानों की आवभगत करती रही।

शीरीं मोटी-सी नाक, मटियाले-से रंग और बड़ी-बड़ी मासूम आखों वाली चौबीस-पच्चीस साल की नाजुक-सी लड़की थी। गुल्लू मियां से कुछ बरस बड़ी दुलहन के लिबास में बैठी वह यों पलकें झपका रही थी जैसे गुड़िया हो। मैं उस लड़की को इतना बेजान देखकर हैरान रह गई। ढेरों जहेज में उसके लिए पचास जोड़े सैंडिलों के थे। मुझे ख्याल आया कि क्या वह इतनी देर भी चल सकेगी कि उसकी एक ही सैंडिल का तला घिस सके ?

"तो फिर गुल भैया ! अल्लाह ने छप्पर फाड़कर दौलत दे दी तुम्हें। अब तो तुम्हारे मजे हैं !" मेरे भाईजान ने खुश्क होंठों पर जबान फेरते हुए ज़रा खिसियाकर कहा।

"अल्लाह की मेहरबानी है ! मगर वल्लाह मैंने अपनी सास से कह दिया है कि मैं अपनी नौकरी करता रहूंगा। आखिर मेरी अम्मां है, वाजी हैं। यह तो सब मेरी बीवी का है, मुझे इससे क्या सरोकार !" गुल्लू मियां ने अपने क़ीमती सूट पर बड़ी संभली हुई नजर डालते हुए जवाब दिया।

और मेरे भाईजान यों हंसे, जैसे गधे को खुश्का खाते देख रहे हों, "लेकिन गुल भैया, यह कैसे होगा ! क्या जोहरा और ममानी तुम्हारे साथ नहीं रहेंगी ? तुम तो घर-दामाद हो ना ?" मैंने घबराकर पूछा।

"रहेंगी मेरे साथ, लेकिन खाएंगी मेरी कमाई। देखिए ना, मैं कौन कम हूं अपनों की खिदमत के लिए ! अल्लाह के फजल से नौकर हूं। मैं नहीं चाहता कि मेरे घर वाले किसी और का दिया खाएं। मैंने साफ-साफ़ कह दिया है अपनी सास से। बुरा मानती हैं तो माना करें !" गुल्लू मियां ने बड़े फ़ख्र से छाती फुलाकर कहा और मैंने थकावट से जम्हाई लेकर सोचा कि अब घर चलना चाहिए। खाना तो हो चुका।

मेरी अम्मां खा-खाकर नाक तक डटी हुई थी। वापस आते हुए रास्ते में बड़बड़ाई, "ऐ, यह फ़ातिमा बाई निगोड़ी कुछ दीवानी लगती है। दुनिया-जहान मे यही गुल्लू मिला था दामाद बनाने को ! न सूरत-शक्ल, न इल्म— मैं कहती हूं किस्मत देखो। कराची भी खूब जगह है, भई वाह !"

कई दिन तक हमारे रिश्तेदारों और मुलाकातियों में इस शादी के चर्चे रहे। कोई कुछ कहता, कोई कुछ। लेकिन सबकी एक राय यही थी कि गुल्लू मियां अपनी हिमाक़तों की वजह से दरिया में डुबकी लगाने पर भी सूखे के सूखे रहेंगे।

मेरे भाईजान का कहना था कि भला यह कहां की तुक थी कि जनाब ने सलामी तक लेने से इनकार कर दिया, हालांकि सलामी तो हर अमीर-

गरीब दूल्हा कुबूल करता है। सरासर हिमाक़त नहीं तो और क्या है ! अरे, दामाद क्या यों मुफ्त में मिलते हैं !

इसके बावजूद हम सब हिमाक़त के दरिया में डुबकी लगाने को बेचैन रहते, यानी गुल्लू मियां से मिलने-जुलने को बेचैन। हम लोग अपनी पड़ोसिनों से नाक-भौं चढ़ाकर फ़ातिमा बाई से अपनी रिश्तेदारी का जिक्र करते। अम्मां कहती, "अरे, हमारा लड़का ऐसे खरे खानदान का गैरों में जाकर फंस गया !" भाईजान हालांकि गुल्लू मियां का जिक्र कुछ दूसरे ढंग से करते थे, फिर भी अक्सर शामों को हमारा मुह उठता तो हम सीधे गुल्लू मिया की ससुराल जा पहुंचते। बड़ी शानदार दोमजिला कोठी थी। ऊपर की पूरी मंजिल बेटी-दामाद के लिए थी और निचली मंजिल में फातिमा बाई और उनके कुछ दूर के रिश्तेदार रहते थे। ये रिश्तेदार उनके कारोबार में छोटी-छोटी तनख्वाहों पर लगे हुए थे। घर में भी उनकी हैसियत योंही-सी थी। मौक़ा मिलता तो ये रिश्तेदार हम जैसे मेहमानों के सामने चाय भी लाकर लगा देते। उन्हीमें से एक चुग्गी दाढ़ी वाला अधेड उम्र का आदमी भी था जो घर के हिसाब-किताब का निगरान था, लेकिन आम तौर पर चाय की प्यालियां उठाता नजर आता। हम लोग पहुंचते तो वह जरूरत से ज्यादा हमारी खातिर करता। वैसे फ़ातिमा बाई खुद भी हमारी काफी आवभगत करती थीं। चाय का वक्त होता तो चाय पिलवातीं। खाने में देर हो जाती तो खाना खिलवाती। गुल्लू मियां की अम्मां ने भी बड़ा रंग निकाला था। वे ड्राइंगरूम में सोफ़े पर बड़े ठस्से से बैठतीं और सामने मेज़ पर बड़ा-सा पानदान खुला रहता। उनके लिबास के साथ कई बार यह पानदान मेल न खाता था क्योंकि वे अक्सर फ़ातिमा बाई का कौमी लिबास भी पहनने लगी थी। कई बार वे हमसे लड़कियों की तरह ठनक-ठनककर कह चुकी थीं कि 'ऐ, क्या करूं, हमारी समधिन रात-दिन पीछे पड़ी रहती है कि आज यह पहनो, कल वह—इन्हें इतनी मोहब्बत है हमसे कि कुछ सुनतीं ही नहीं।'

ये तारीफें सुनकर फातिमा बाई बड़ी निहाल होतीं। गुल्लू की बहन

ज़ोहरा भी बोलती तो अपनी भाभी की तारीफ़ में। मैंने कई बार देखा कि शीरीं के जहेज़ की सैंडिलें ज़ोहरा बड़ी तेज़ी से घिस-घिसकर ठिकाने लगा रही है। गुल्लू मियां नौकरी पर जाते तो मोटरसाइकल पर, जो फातिमा बाई ने उन्हें तोहफ़े के तौर पर ख़रीद दी थी—मोटर पर इसलिए न जाते कि दफ़्तर के साथी उन्हें छेड़ते थे। मैं देखती कि बेचारे गुल्लू मियां अजीब लगड़-बगड़-से लगते थे मोटरसाइकल पर।

शीरीं अक्सर हमारे सामने गुल्लू मियां से कहती, "यह नौकरी क्या है! बिजनेस करेंगा तो अच्छा होयेगा। अपना बिजनेस है, उसे देखेगा। मोटर अपनी छोड़ेंगा और मोटरसाइकल पर घूमेंगा तो लोग कैसा बोलेगा!"

शीरीं यह सब ऐसे मशीनी ढंग से कहती कि जी उलट जाता।

"अरे हां गुल भाई, ठीक तो कहती है भाभी! बिजनेस की देखभाल किया करो।" मैं बिलकुल मुफ़्त मशविरा देती।

"पर हम क्या बोलेंगा, हमारे को अपना नहीं समझेंगा गुल भाई!" फ़ातिमा बाई भी शिकायत करती और गुल्लू मियां पिंजरे में बंद बंदर की तरह हैरान हो-होकर सबकी तरफ़ देखते। फिर एक दिन सुना कि गुल्लू मियां ने अपने किसी अफ़सर की डांट पर उसे घूंसा मार दिया और नौकरी छोड़ दी और यह भी सुना कि अब फ़ातिमा बाई की ख्वाहिश के मुताबिक़ बिजनेस की देखभाल करते हैं।

हम सब मौक़ा देखकर एक दिन पहुंचे। यक़ीन जो नहीं आता था। पता चला, ठीक है। गुल्लू की अम्मां और बहन बड़ी खुश थीं। गुल्लू मियां ज़रा देर बाद मोटर से उतरकर अन्दर आए तो काफ़ी बदले-बदले-से लगे, जैसे बीमार हों। मगर मुझे यह बीमारी बड़ी रोमाण्टिक-सी लगी और जब वे धीरे से उठकर कंधे झुकाए ऊपर चले गए तो उनकी अम्मां ने उनकी इस अदा का मतलब यह बयान किया कि 'बच्चा थका हुआ है! अब जाकर नहाएगा।'

"नहीं, नाराज हैगा हमारे से। देखो, हम बोला था—गुल भाई,

बिजनेस, बिजनेस है। किसीके साथ लिहाज नहीं करेगा। एक महीना होयेगा, तुम कोई नफ़अ् नहीं कमाया—यह भी बोला, गुल भाई, किसीपर रुपया नहीं छोड़ेगा—लिहाज और रुपये का दुश्मनी हैगा। बिजनेस, बिजनेस माफिक होयेगा!" फ़ातिमा बाई ने अपनी खास जबान में हमें अपना हमख्याल बनाने की कोशिश की।

"ऐ समधिन, ख्वाहमख्वाह समझती हो कि लड़का नाराज़ है! बच्चा नर्मदिल है। सीखते-सीखते सब सीख जाएगा।" गुल्लू की अम्मा ने जोर से पानदान बंद किया।

"नहीं आपा, बिजनेस, बिजनेस है, नहीं तो सब खलास (खत्म) हो जाएगा। इब्राहीम भाई बोलता, गुल भाई बोहत-बोहत लिहाज़ करता।" फ़ातिमा बाई ने बताया।

"बिलकुल ठीक बोला, बिलकुल ठीक!" इब्राहीम भाई ने अपनी चुग्गी दाढ़ी हिलाकर हमारे सामने चाय पेश करते हुए कहा।

इस घरेलू कारोबारी खिचाव पर काफ़ी देर तक गुफ़्तगू होती रही, जिसमें सबसे ज्यादा मेरे भाईजान ने हिस्सा लिया और अम्मा ने हां में हां मिलाई और यह साबित किया कि उनके सिवा बिजनेस के ऊंच-नीच और कोई नहीं जानता। गुल्लू मियां की अम्मां बहुत बुरा मानती रहीं और यह साबित करती रहीं कि उनके खून में कारोबार रचा हुआ है। हालांकि यह बिलकुल झूठ था। उनके खानदान में तो किसीने तराजू तक को हाथ नहीं लगाया था।

वापसी से पहले हम लोग गुल्लू मियां से मिलने उनके शानदार बैड-रूम में पहुंचे। वे बड़े बेचैन-से थे। हमने उन्हें बड़े अपनेपन से 'बड़ा आदमी' हो जाने के ताने दिए और शिकायत की कि वे हमारे यहां नहीं आते।

"अरे क्या! कहां की बड़ाई, यह बिज़नेस भी नौकरी, समझके कर रहा हूं—आखिर कुछ न कुछ तो करना ही है। अई हूं, मुफ्त की तो नहीं खा सकता। खैर, आइए आप लोगों को मोटर में आपके घर छोड़ आऊं।"

मोटर ड्राइव करते हुए गुल्लू मियां कितने अजनबी लगे, क्या बताऊं!

घर पर मैंने जबरदस्ती उन्हें भी थोड़ी देर को उतार लिया। लेकिन फिर शर्म आई कि घर क्या बुरी हालत में था। गुल्लू मियां जल्दी में थे। बैठे भी नहीं।

गुल्लू मिया की अम्मां हम लोगों से काफी खटक गईं। इसलिए उन्होंने हमें नही बुलाया और हमें भी जाने का कोई बहाना नहीं मिला।

कुछ महीने बाद यह सुनकर जरा भी हैरानी नहीं हुई कि गुल्लू मियां कारोबारी मामलों में बिलकुल निकम्मे साबित हुए और गुल्लू मिया पर चुग्गी दाढ़ी वाले इब्राहीम भाई निगरान मुक़र्रर हो गए। अब सारे काम खुद-ब-खुद हो जाते थे, इसलिए सुना कि बेचारे गुल्लू मियां बड़े-बड़े होटलों और सिनेमाओं में पाए जाने लगे हैं—कभी कारोबार मे दखल देने पहुंचते तो इब्राहीम भाई बड़ी मोहब्बत से उन्हें 'सब ठीक चलता है' कहकर चाय पेश करते और सिर झुकाकर विदा कर देते—ये बातें सुनकर मैं गुल्लू मियां से मिलने को बेचैन थी। मेरे दिमाग़ मे इब्राहीम भाई को पटखनी देने की बड़ी अच्छी तजवीज़ें थीं—मगर मेरी अम्मां उन दिनों ज़रा ज्यादा खुद्दार हो गई थीं; इसलिए फ़ातिमा बाई के यहां जाने की हर तजवीज को वे 'वीटो' कर देतीं।

एक दिन हमारी मैली-कुचैली बिल्डिंग के सामने एक मोटर का हार्न देर तक चीखा। मैंने गैलरी से झुककर देखा तो गुल्लू मियां की मोटर खड़ी थी।

"गुल्लू मिया आए हैं!" मैंने चीखकर अम्मां को इत्तिलाह दी। हमारे हाथ-पांव फूल गए। जल्दी-जल्दी कमरे में बिखरे हुए कपड़े, मैले बरतन और किताबें उठा-उठाकर दूसरे कमरे में फेंकीं। कुर्सियों पर जमी हुई धूल दुपट्टे से पोंछी। अम्मां ने दूसरे कमरे में जाकर दुपट्टा सिर पर डाला। मैंने फुर्ती से चप्पल उतारकर सैंडिल पहनी, और जब दरवाज़ा खोला तो गुल्लू मियां कोट में गुलाब का फूल लगाए बड़ी गंभीरता से भीतर आए। मुझे यों लगा जैसे गुल्लू मियां के चेहरे पर उम्र बरस गई हो।

अम्मां गुल्लू मियां की बलाएं लेने के बाद चाय के बहाने दूसरे कमरे मे चली गई और फिर पिछला दरवाजा खुलने की आवाज़ आई। जाहिर है कि अम्मां पड़ोसिन के यहां से उसके जहेज का टी-सैट लेने गई थी और साथ ही उसे यह भी बताने कि देखो, मेरे सगे देवर का लड़का आया है, जिसकी जानी कार नीचे गली मे खड़ी है।

"गुल, कितने दिनो के बाद आए हो—जाओ, हम नहीं बोलते तुमसे !" मैंने महसूस किया कि मेरा दिल जोर-जोर से धड़क रहा है।

"फ़ुर्सत ही नही होती, क्या करूं बट्टो आपा !"

"अरे वाह ! ऐसी कौन-सी ईटें ढोते हो। अल्लाह की मेहरबानी से किसीके गुलाम तो हो नही !" मैंने चकराते हुए कहा और गुल्लू मियां पर नज़रें जमाने की कोशिश की—मुंशी फ़ाज़िल के कोर्स की दीवार के पीछे वे कितने मुख्तलिफ़ नज़र आए मुझे !

"सच कहता हूं, फ़ुर्सत नही मिलती। कई बार सोचा कि आपके यहा आऊ, फिर भूल गया—जाने क्या हो गया है दिमाग़ को !" और शादी के बाद पहली बार मैंने उनके चेहरे पर पुरानी बेबसी और मासूमियत की झलक देखी और मेरा जी चाहा कि अपनी किताबो की दीवार के पीछे से उन्हें कोई मशविरा दू—नही, बल्कि थपक-थपककर तसल्ली दू। लेकिन एक ही पल में वे बदल गए।

"वल्लाह ! सब भूल जाता हू आपा—कल ही किसीसे 'हाक्स-बे'[1] चलने का वायदा था। काटेज भी रिज़र्व करा ली थी, मगर मैं एकदम भूल गया।" गुल्लू मियां ने बड़े स्मार्ट (चुस्त) ढंग से दु:खी होते हुए रुक-रुककर कहा।

कोई और होता तो मैं उसके मुह से यह बात सुन-सुनकर उसे मारने दौड़ती, मगर इस वक़्त मुझे भी लगा जैसे गुल्लू मियां का जिस्म एकदम फैल रहा हो। 'वंडर लैंड' की 'ईलियस' की तरह जिसने शीशे की मेज़ पर रखी बोतल का शर्बत पी लिया हो, मेरे छोटे-से कमरे मे जैसे वे ठुस-

१. जहां जोड़े पिकनिक मनाने जाते है।

कर रह गए। मेरा दिल घबराने लगा। अपना-आप बेकार-सा लगे तो उलझन होनी ही है। मैं चाय लेने के लिए दूसरे कमरे में भागी, और जब मैं अम्मा के साथ पुरतकल्लुफ़ चाय लेकर दोबारा कमरे में दाखिल हुई, तो वे बड़े स्टाइल से मेरी कोई किताब पकड़े मेज से लगे खड़े थे, और मुझे ख्याल आया कि अरे, ये तो गुल्लू मियां हैं !

गुल्लू मियां ने बड़े अन-मन से चाय के कुछ घूंट पिए और बाजार से मंगवाए हुए समोसों और मिठाई को छुआ तक नहीं। हालांकि अम्मा चाहती थी कि ये सारी चीजें गुल्लू मियां खा लें। जाने से पहले उन्होंने हमें दावत दी कि मोटर में घूमने चलें और हम तैयार हो गए।

"कहां चलें आपा ?" गुल्लू मियां ने स्टीयरिंग पर झुककर पूछा।

रास्ते में मोटर की नर्म गद्दियों पर उछलते हुए मुझे एहसास होता रहा कि ये गुल्लू मियां मेरे लिए दिलचस्प होते जा रहे हैं। सड़क पर ठर्रा पीकर लड़कियों पर आवाजें कसने वाले लोग कितने बुरे मालूम होते हैं—लेकिन मोटर में बसी हुई अंग्रेजी शराब की हल्की-सी बू और 'हाबस-बे' की काटेज में बैठी इन्तजार करती हुई लड़की गुल्लू मियां के सिर के गिर्द चांद के हाले[1] की तरह चमक रही थी—ख्याल रहे कि मैं एक पढ़ी-लिखी शरीफ लड़की हूं, इसलिए इस सच्चाई को तस्लीम करते हुए मुझे तकलीफ हुई—उस दिन तफ़रीह (मनोरंजन) में मेरा मूड बार-बार बिगड़ जाता। फिर मैं यह सोचने लगती कि शायद शीरीं बेहद ठंडी-सेठी होगी जभी तो बेचारे गुल्लू मियां ऐसे हुए जा रहे हैं। मैं उस दिन बहुत 'ऊंची बनने' की कोशिश करती रही।

गुजरते हुए वक़्त को उस लम्हे एक धचका-सा लगा; जब एक रात गुल्लू मियां की अम्मां मोटरसाइकल-रिक्शा में बैठकर हांपती-कांपती हमारे यहां पहुंचीं।

"ऐ, जल्दी चलो ! फ़ातिमा बाई निगोड़मारी पर निकाह का भूत सवार है !..."

---

१. चांद के गिर्द पड़ने वाला मंडल

"ऊई !" अम्मां एकदम बोखला उठीं, और मुझे एकदम हंसी आनी शुरू हो गई—वाह ! क्या फ़ातिमा बाई की लगाम हमारे हाथ थी ! मुझे गुल्लू मियां की अम्मां से कुछ कम ही हमदर्दी हुई। पिछले कुछ महीनों में उन्होंने हमें पूछा तक न था।

"किसके निकाह का भूत सवार है ?" भाईजान ने सीधे-सुभाव पूछा।

"ऐ, अपने निकाह का !" गुल्लू मियां की अम्मा और भी गुस्से में भरकर बोलीं।

"तो करने दीजिए।" भाईजान ने उसी अंदाज से जवाब दिया और गुल्लू की अम्मा एकदम रो पड़ीं।

"निकाह कर लेंगी तो सब चौपट हो जाएगा ! हमारा क्या होगा ?" गुल्लू की अम्मां ने यहां से बात शुरू की तो सबको क़ायल करके छोड़ा। वे जिद कर रही थीं कि हम लोग चलकर फातिमा बाई को समझाएं कि वे अपने इरादे से बाज आ जाएं।

हम लोग शायद इस झगड़े में न पड़ते, मगर यह खोज भी बुरी बला है। अम्मा झट तैयार हो गई—हम सब पहुंचे।

फातिमा बाई पहले ही की तरह संजीदा और रोबदार नजर आ रही थीं। उन्होंने हमेशा की तरह हमारी आवभगत की। गुल्लू मियां की अम्मां ने बड़ी चालाकी से निकाह का जिक्र छेड़ा तो फ़ातिमा बाई जरा चौंकीं।

"ऐ समधिन बी ! अल्लाह रखे, बेटी-दामाद के होते हुए निकाह कैसा ?" मेरी अम्मा ने बेतुकेपन से फौरन कह दिया। लेकिन फ़ातिमा बाई जब्त कर गई। फिर उन्होंने अपनी खास जबान में अपना मतलब समझाया। सारी गुफ्तगू का लुब्बे-लुबाब यह था कि अगर निकाह नफ्स (काम-तृप्ति) के लिए करना होता तो बेटी की शादी से पहले कर चुकी होतीं। अब तो उन्हें खुद भी निकाह करते शर्म आती है। मगर क्या करें ! इतना कारोबार कैसे चले ? कोई देख-भाल करने वाला भी तो हो। बेटी

की शादी शरीफ आदमी देखकर इसलिए की थी कि कारोबार दामाद सभालेगा; मगर कारोबार समझना हर किसीके बस का रोग नहीं। गुल्लू मियां पर भरोसा करके देखा। उनका दिल और है, कारोबारी का दिल दूसरा होता है। सब बना-बनाया डूबा जा रहा है—यह तो नहीं देखा जा सकता ! दौलत रहेगी तो गुल्लू मियां और उनकी औलाद ही के काम आएगी। गैरों पर भरोसा नही किया जा सकता; इसलिए मजबूत होकर निकाह कर रही हू, ताकि कारोबार की सही देखभाल हो सके।

यह वजह सुनकर गुल्लू मियां की अम्मा तिलमिलाई, "दुनिया क्या कहेगी, बुढ़ापे में निकाह करती हो !" वे चीखकर बोली।

"दुनिया तो पहले भी बहुत बोला, जब हम गुल्न भाई को दामाद बनाया। हमको परवा नई। दुनिया कुछ बोले, तो हम अपना बिजनैस लुटा दे !" फातिमा बाई ने भी चीखकर जवाब दिया।

और मेरी अम्मा ने कायल होकर सिर हिला दिया। इसके बाद हमारे सामने हमेशा की तरह पुरतकल्लुफ चाय पेश की गई। लेकिन चाय पेश करने वाले इब्राहीम भाई नही थे, क्योंकि वही तो इस कारोबारी निकाह के दूल्हा चुने गए थे।

यह बात तो साफ थी कि इब्राहीम भाई ने गुल्लू मियां की कारोबारी नालायकी साबित करने में कितना हाथ बटाया था। लेकिन हमें इस बात का इत्मीनान था कि इस झगड़े में गुल्लू मियां बिलकुल अलग होंगे, बल्कि जब वे देखेंगे कि उनकी अम्मा इस कारोबारी निकाह के खिलाफ़ मुहिम चलाए हुए हैं तो बहुत नाराज़ होंगे। हालांकि वे बेचारी उन्हींके लिए यह भाग-दौड़ कर रही थी। उन बेचारी का ख्याल था कि मुमकिन है, फातिमा बाई के कोई और औलाद हो जाए—अच्छी-भली तो थी फातिमा बाई—यह नही तो इब्राहीम भाई बाद में खुद भी हिस्सेदार बन सकता था—यों उनके बेटे का कितना नुक़सान होता !

मैंने सोचा, अगर गुल्लू मियां को मालूम हो कि उनकी अम्मा किन फ़िक्रों और चालों में पडी हैं तो शायद घर छोड़कर भाग जाएं। लेकिन

वे हमें मिले ही नहीं। मैंने एक दिन ईरानी के होटल से टेलीफ़ोन भी किया, मगर वे घर पर नहीं थे।

फिर खबर सुनी कि शीरीं को बुखार रहने लगा है। एक दिन मैं और अम्मां उसे देखने गए। शीरीं अपने शानदार बैडरूम में थी और गुल्लू की अम्मां और जोहरा उसके सिरहाने बैठी उसका सिर सहला रही थीं। वो दोनों हमें देखकर खुश नहीं हुईं।

फ़ातिमा बाई दवा की शीशी लिए शीरी के पास आई—उनके माथे पर बल थे।

"ए, बहू के दिल को सदमा है ! बाप को हर वक्त याद करती होगी, जभी तो बुखार रहने लगा है।" गुल्लू की अम्मां ने कड़वे लहजे में मेरी अम्मां से कहा—मेरी अम्मा हर बात मे हां में हां मिलाने की आदी हैं, इसलिए उन्होंने भी बिना समझे-बूझे हां में हा मिला दी। इस पर फ़ातिमा बाई बिलकुल बिखर गई और गुल्लू मिया की अम्मां का हाथ शीरीं के सिर पर से झटक दिया।

"हाय, तुमने मेरे हीरे जैसे बच्चे को फांस लिया ! अब मेरी बेइ-ज्जती करती हो !" गुल्लू मियां की अम्मां ने औरतों वाला हथियार इस्तेमाल किया और धाड़े मार-मारकर रोने लगी।

यह सुनकर फ़ातिमा बाई और भी आग-बबूला हो गई। उन्होंने हमारे सामने ही बुखार में तपती हुई शीरी को घसीटा कि वह नीचे चले और फिर कभी गुल्लू की सूरत न देखे।

"तुम लोग भिखारी है—हम जानता है !" फ़ातिमा बाई शीरी को ले जाते हुए चीखीं और गुल्लू की अम्मां की धाड़ें एकदम सिसकियो मे बदल गई। इस हगामे में कही से गुल्लू मिया आ गए। उन्होंने एक लम्हे को अलग खड़े-खड़े यह तमाशा देखा, और फिर तेजी से दूसरे कमरे में चले गए।

मुझे गुल्लू मियां की सूरत देखकर डर लगा। बिलकुल मेंढक के पेट जैसी रंगत और ठहरी हुई पुतलियां। सिसकती हुई शीरीं फ़ातिमा बाई

के साथ नीचे जा चुकी थी और अब गुल्लू की अम्मा भी खामोश थी। अगर गुल्लू मियां दूसरे कमरे से न निकले।

"ऐ तोबा! खुदा न लाए ऐसे बदतमीजों के घर में! हमारे यहा तो लखपती बेटी वाले अपने घसियारे दामाद के सामने भी हाथ जोडते हैं! ये मुए तो बिलकुल जगली है! अब यहां कोई थूकने भी आया तो मुझसे बुरा कोई न होगा!" अम्मां ने फ़ातिमा बाई से सलाम का जवाब न पाकर उनकी कोठी से निकलते हुए कहा, और मैंने भी सोचा, वाकई हमें क्या! ख्वाहमख्वाह अपनी हेटी हुई ना!

दूसरे दिन सुबह ही सुबह गुल्लू की अम्मां और जोहरा रोती हुई हमारे यहां आ पहुंची।

"खुदा के लिए जल्दी चलो—बट्टो को भी ले चलो! बट्टो, अपने भाई को भी टेलीफ़ोन करके बुला लो!" गुल्लू की अम्मां कुर्सी पर यो बैठी, जैसे उन्हें गश आ गया हो।

"अरे हुआ क्या?" अम्मां ने इत्मीनान से पान की गिलौरी मोड़ी और मुंह में रख ली।

"ऐ, क्या बताऊं, तुम लोग तो बस चलकर गुल्लू मियां को वहां से ले आओ! वह तुम्हारी बात मानेगा।" गुल्लू की अम्मां ने मेरा हाथ पकड़ लिया, "आज तो अल्लाह ने बचा दिया, वरना मेरे मुंह में खाक; उन्होंने तो अपनी तरफ से खात्मा ही कर दिया था।"

"खात्मा! क्या कह रही हैं आप?" मैं डरी।

"शीरीं के बिरादरी वाले खून के प्यासे हो रहे है। कल उस हर्राफ़ा बूढ़ी का निकाह है ना! रात गुल्लू मियां गुसलखाने में थे। कोई दो बजे होंगे कि किसीने गोली चलाई। तकिये में लगी आकर। और नीचे शोर मचा दिया—चोर, चोर! अगर वहां गुल्लू मियां होते तो हाय अल्ला क्या हो जाता!" जोहरा ने आंखें फाड़े-फाड़े बताया।

और हम सब जरा देर के लिए डर के मारे खामोश हो गए। मेरी खुली आंखों के सामने गुल्लू मियां का काला चेहरा आ गया। खोपड़ी

उड़ी हुई और सफ़ेद भेजे के जर्रे हर तरफ बिखरे हुए। डर और नफ़रत से मैंने झुरझुरी ली। या अल्लाह, बेबसी का यह ख्याल कितना घिनौना था !

"हम तो पहले ही आपस में कहते थे कि यह बेल कैसे मढ़े चढ़ेगी। ऐ, छोड़-छाड़कर वहां से चला आए ना गुल्लू !" अम्मा ने घबराकर पानदान बंद किया।

"हाय अल्लाह ! कोई चलकर उन्हें ले आए। वे तो कहते हैं, वह घर मेरा है, मैं नहीं छोड़ूंगा—जाने क्या होगा !" जोहरा सिसक-सिसककर रोने लगी।

"हम कैसे जाएं ! हम क्या कर सकते हैं ! फिर ठीक ही तो कहता है गुल्लू !" अम्मां ने मुंह से कहा। वे बहुत ज्यादा डरी हुई थीं।

गुल्लू की अम्मा और बहन के लाख रोने-गाने पर भी हम उनके साथ न गए। जाहिर है कि मामला इस हद तक पहुंच चुका हो तो वहां जाकर अपनी टांग कैसे फंसाई जाए !

रात जब भाईजान घूम-फिरकर आए तो अम्मा ने करवट बदलकर बड़े दुःख से कहा, "बेचारा गुल्लू उस सूखी तपेदिक की मारी शीरीं के लिए वहां बैठा है जान की बाजी लगाए। देख लेना, वह लौंडिया भी मां की हिमायत करेगी। अगर वह चाहती तो मां निकाह का नाम ले सकती थी भला ?"

"हूं !" भाईजान ने कहा और करवट बदल ली। उनका फैसला था कि इस बेहूदा किस्से से हमें कोई सरोकार न रखना चाहिए।

और मैं रात सोते में भी किसी भयानक खबर का इन्तजार करती रही। सुबह-सुबह अखबार मैंने ही उठाया। वह भयानक खबर कहीं नहीं थी। दूसरी सुबह भी मैं सबसे पहले जागी और अखबार उठाया; क्योंकि उस दिन फातिमा बाई इब्राहीम भाई की बीवी बन चुकी थी। तीसरे दिन भी मैं अखबार गिरने की आवाज से जाग उठी, और इसी तरह कई दिन तक फिर एक दिन मैंने ईरानी के होटल से फ़ातिमा बाई के घर का फोन

नम्बर मिलाया :

"हैलो, गुल भाई हैं ?" मैंने बड़े स्टाइल से पूछा और किसीने जोर से टेलीफ़ोन बंद कर दिया। लेकिन जनाब, आदमी का दिमाग़ टेलीफ़ोन तो है नहीं कि जब चाहा सुना, जब चाहा नहीं सुना। मैं बच्चों की तरह 'फिर क्या हुआ ?' का जवाब सुनना चाहती थी। उन्हीं दिनों मेरा इम्तिहान करीब आ गया। जी चाहता कि कराची में बिखरे हुए रिश्तेदारों मे जाऊं कि शायद कहीं से गुल्लू मियां की कोई खोज-खबर मिले। लेकिन पढ़ाई से फ़ुर्सत ही न मिलती। मुझे रह-रहकर अफसोस होता कि उस दिन जरा गुल्लू मियां की अम्मां के साथ चले जाते तो क्या हर्ज था। फ़ातिमा बाई हमें फांसी तो न दिलवा देतीं ! किताबों से सिर मारते-मारते मुझे बार-बार गुल्लू मियां याद आते। किसी ज़माने में वे कितने लगाव से मेरी ये किताबें देखते थे, और कभी मुझे······मैं पहले ही बता चुकी हूं ना कि घर मे मेरा नोटिस बहुत कम लिया जाता था।

एक दिन मैंने डरते-डरते भाईजान से कहा, "अरे, भाईजान ! गुल्लू मियां नहीं मिलते किसीको ?"

"अरे हां, कल कोई कह रहा था कि वह तनतने में फ़ातिमा बाई की शादी के दिन वहां से चल दिए थे।" भाईजान ने बेजारी से जम्हाई लेकर कहा।

"अरे सच ! पहले न बताया तुमने !" अम्मां ने पूछा।

"बताता क्या ! बिलकुल गधा है।" भाईजान ने दोबारा जम्हाई लेकर कहा।

"अब कहां हैं वो लोग ?" मैंने दबी ज़बान से सवाल किया।

"मुझे क्या खबर ! खबर न हो यही बेहतर है। रहने का ठिकाना तो होगा नहीं उन लोगों के पास—और हमारा फ़्लैट हर किसीको बड़ा-लगता है।" भाईजान इतना कहकर अखबार पढ़ने लगे। अम्मां बावर्ची-खाने में चली गईं और मैं किताबों पर झुक गई। मेरी आखों के सामने गुल्लू मियां की पुरानी सर्ज की शेरवानी का घिसा हुआ दामन फड़फड़ाया

तो मैंने किताब का पन्ना उलट दिया—मेरा इम्तिहान क़रीब था ना !

इम्तिहान के लिए लाहौर जाने में चंद दिन बाकी थे। आखिरी दिन 'पंजाब से इम्तिहान पास कराने की गारंटी देने वाले कालेज' से निकली तो बोल्टन मार्केट के एक बसस्टॉप पर रुककर मैंने सोचा कि यहां से क्लाथ मार्केट जाना चाहिए, शायद कोई सस्ता लेकिन उम्दा दुपट्टा मिल जाए। मेरे रूमाल में पांच रुपये बंधे हुए थे, जो अम्मां ने बड़ी मुश्किल से दिए थे। उनका ख्याल था कि मेरे पास चार दुपट्टे हैं और वो काफ़ी हैं। अम्मां की कंजूसियों के ख्याल से मेरी आंखें गीली हो गईं। अब भला लाहौर जाना हो, और कोई शेफ़ून का दुपट्टा न हो, कमाल है ! (मैंने सुन रखा था कि लाहौर की लड़कियां बड़े ठाट के कपड़े पहनती हैं।) जी चाहा, ये पांच रुपल्ली रूमाल से खोलकर सड़क पर फेंक दूं और बसस्टॉप पर बैठकर खूब रोऊं।

मैंने खुद को बहलाने के लिए सड़क पर आती-जाती लम्बी-लम्बी और नई-नई मोटरों को गिनना शुरू कर दिया, जिनकी संख्या मेरे देखते-देखते कराची की सड़कों पर बढ़ती जा रही थी।

एक-दो···हाय अल्लाह ! कितना खूबसूरत रंग है; ऐसी साड़ी हो तो···तीन, कितने नाज़ से मुंह ऊंचा किए बैठी है, और साड़ी का रंग हाय, अल्लाह ! अरे, यह कौन हरामज़ादा मेरे कूल्हे पर थप् जमाता गुज़र गया ! सामने से आते हुए पहलवान से अपना कंधा बचाते हुए मैं फिर रुआंसी हो गई···चार, पांच···कई मोटरें गुज़र गईं। उनमें बैठी औरतें कितनी आज़ाद, कितनी खुश थीं—और मैं अभी तक बस के इन्तज़ार में खड़ी थी ! बस जिसमें घुसते हुए बहुत-से टहोके खाने थे···छः, सात···हाय, कितना शानदार पीला शेड है—ऐसा ही दुपट्टा लूं तो···मगर इस कार में तो गुल्लू मियां थे !

मेरा हाथ आप ही आप उठ गया। हलके पीले रंग की लम्बी-सी अमरीकी कार ज़ोर से ब्रेक लगाकर रुक गई।

"अरे गुल्लू मियां, तुम ?" मैंने हकलाकर कहा और मेरा हाथ कार

की चिकनी सतह पर फिसल गया।

"कहां जाना है, चलिए मैं पहुंचा दूं।" गुल्लू मियां ने सियाह चश्मा उतारकर रूमाल से साफ किया और मेरे लिए अपने पहलू का दरवाज़ा खोल दिया। कार चल पड़ी। मैं अभी तक सन्नाटे में थी। गुल्लू मियां और इस नई कार का तअल्लुक़ मेरी समझ में नहीं आ रहा था—कहीं ड्राइवरी तो नहीं करने लगे ?

क्या करते हो गुल्लू मियां आजकल ?" मैंने गला साफ करके पूछा।

"वही कारोबार की देखभाल करता हूं।" गुल्लू मियां ने ऊंची आवाज़ में जवाब दिया और मुझे भाईजान के झूठ पर गुस्सा आ गया।

"शुक्र है, सब मामला ठीक हो गया। एक बार मैंने टेलीफोन किया था, जाने किसने बंद कर दिया तुम्हारा नाम सुनकर—शीरीं कैसी हैं ?" मैंने कहा।

"अच्छा, तो आपको मेरी फ़िक्र थी ?" गुल्लू मियां ने बड़े अजनबी ढंग से मेरी तरफ़ देखा, और मैं गड़बड़ा गई।

"तुम हमसे नाराज हो ? देखो ना, उस दिन ममानी आई तो··· भाईजान···" मैंने सफाई पेश करनी चाही। मैं समझ गई कि उनकी अम्मां और बहन ने उन्हें हमारे खिलाफ खूब भरा था।

"अरे नहीं, मैं भला क्यों नाराज होने लगा आपसे !" गुल्लू मियां ने सिगरेट सुलगाई, "अरे हां, एक खबर तो सुनी होगी आपने—ज़ोहरा बाजी की शादी हो गई।" गुल्लू मियां ने कहा।

"अ···च्छा !" मेरा गला गुस्से से भर आया, "यह गैरपना नहीं तो और क्या है कि ज़ोहरा की शादी में हम लोगों को पूछा तक नहीं !"

मोटर एक धक्के से एक शानदार दुकान के सामने रुक गई।

"मुआफ़ कीजिए, मैं ज़रा दूल्हा भाई को ले लूं। उन्हें घर छोड़ना है।" गुल्लू मियां ने मुझपर झुककर कहा और मुझे शराब की बू ने चकरा दिया।

गुल्लू मियां बड़े नपे-तुले क़दम उठाते दुकान की साफ़-सुथरी सीढ़ियों

पर जा खड़े हुए। थोड़ी देर बाद एक गिद्ध की शक्ल का बूढ़ा घुटनों पर हाथ रखता आहिस्ता-आहिस्ता गुल्लू मियां के साथ दुकान से उतरा, और गुल्लू मियां ने कार का पिछला दरवाज़ा उसके लिए खोल दिया। कार दोबारा फ़र्राटे भरने लगी और मैं चकरा गई।

"दूल्हा भाई को छोड़ दूं, फिर 'हाक्स-बे' की सैर कराऊंगा आपको, चलेंगी ?" गुल्लू मियां ने बिलकुल मेरे कान के साथ मुंह लगाकर कहा। और मेरे अन्दर हतक का एहसास शोले की तरह भड़क उठा।

"तो मैं···गोया मैं···" मुंशी फ़ाज़िल की किताबें मेरी गोद से लुढ़क-कर नीचे मेरे पांव पर गिर गईं। मैंने मुड़कर बूढ़े गिद्ध-शक्ल ज़ोहरा के शौहर को देखा और फिर गुल्लू मियां को—उन दोनों से मुझे डर लगा और एक न निकल सकने वाली चीख़ मेरे गले में फंसकर रह गई।

मेरे घर की गली आई और गुज़र गई।

दरअसल यह नई मोटर बड़ी तेज़रफ़्तार थी।
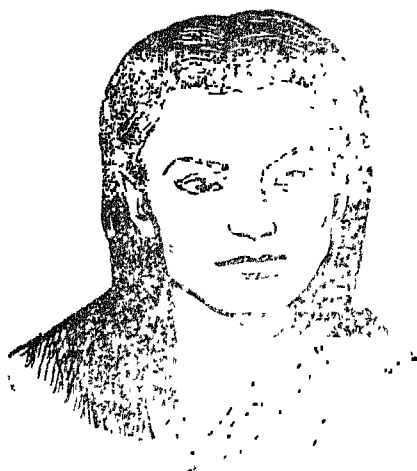
## ख़दीजा मस्तूर

दिसम्बर, १९२७ में लखनऊ में मेरा जन्म हुआ। बहुत छोटी थी जब पिता का देहान्त हो गया; इसलिए बाक़ायदा शिक्षा अधिक समय तक न चल सकी। बेक़ायदा शिक्षा तो शायद जीते-जी समाप्त न हो।

लिखने का शौक़ माता-पिता की ओर से मिला। १९४२ में पहली बार एक अत्यन्त उपहासजनक कहानी लिखी और एक पत्र को भेज दी। (उस पत्र का अब नाम याद नहीं)

उस पहली कहानी के छपने की आज तक प्रतीक्षा है। बहर-हाल हिम्मत नहीं हारी, आज तक लिख रही हूं।

कहानियों के तीन संग्रह छप चुके हैं। चौथा संग्रह 'थके-हारे' और एक उपन्यास 'आंगन' छप रहा है।

९ अप्रैल, १९५० को जहीर बाबर से शादी हो गई।

पता : कमला राजा स्टेट, कोठी नं० २, स्ट्रीट नं० १, कैनाल पार्क, लाहौर

# बोरका*

मेरे होश में अब्बा का यह पहला तबादला हुआ था। नई जगह मेरे लिए बड़ी अजीब-सी थी। घर मे हर तरफ सामान बिखरा पड़ा था, जिसे अम्मी एक चपरासी की मदद से कमरो मे लगवाने की कोशिश कर रही थी। उनकी सास फूली हुई थी और वे बार-बार कुर्सी पर बैठ जातीं। सलमा आपा, छोटे भैया और बड़े भैया आंगन में ऊधम मचा रहे थे। जाने कहा से दो-दो, तीन-तीन मोर उड़ते हुए आते और आंगन की दीवारों पर बैठ जाते। गर्दन झटका-मटकाकर चारों तरफ़ देखते। बड़े भैया और सलमा आपा कान में चुपके-चुपके बाते करने लगते और फिर मोरों की तरफ झपटते, लेकिन वे कब उनके हाथ आने वाले थे! फुर से उड़ जाते। मोरो को देखकर मुझे डर लग रहा था। उनके पंख तो बड़े सुन्दर थे, लेकिन जिस्म इतने बड़े-बड़े कि लगता, अभी आगे बढ़कर मुझे पकड़ लेंगे। अम्मी को भी शायद मोरों से डर लग रहा था। उन्होंने कई बार लम्बी-लम्बी सांसें भरीं, "ऐ अल्लाह! यह तो बिलकुल जंगल है। दिन-दहाड़े घरों मे मोर घुसे आते हैं। अपनी पहली जगह कितनी अच्छी थी! पर ज्यादा दिन कब चैन से बैठना मिलता है! रोज़ के तबादलों ने जीना दूभर कर दिया है।"

चपरासी अम्मी की बात पर मुस्कराने लगा, "बीबीजी! यही तो यहा की खूबसूरती है। यहा बड़े अच्छे मन्दिर है, और मोर तो चिड़ियों की तरह फिरते हैं। एक-दो दिन मे आपका जी लग जाएगा।"

अम्मी चुप रहीं, लेकिन मेरा जी चाह रहा था कि अपनी फ्राक फाड़

---

* मिट्टी की दो जुड़ी हुई दवातें, जो यू० पी० की प्राइमरी पाठशालाओं में बच्चे इस्तेमाल करते हैं। कुरूपता में ये अपना सानी नहीं रखतीं।

डालूं। बालों से रिबन नोच लूं, और बड़े जोर-जोर से रोऊं और इस चपरासी के कान इतने जोर से ऐंठूं कि लहू निकल आए। इतनी गंदी जगह को अच्छी कहता है। यहां तो मेरा 'कलवा' भी नहीं, जिससे खेलूं। कौन घोड़ा बने और कौन मेरे साथ गेंद खेले? सलमा आपा, बड़े भैया और छोटे भैया तो पक्के कमीने हैं। एक मिनट के लिए उनसे खेलो तो चपते मारते है। धक्के दे-देकर भगाते है। अल्लाह करे, ये मर जाएं! मैंने खूब जोर से रोना शुरू कर दिया, "हम तो कलवा के पास जाएंगे, हां!"

"लो अब मेरा भेजा खाएगी! मैंने पहले ही उनसे कहा था कि किसी तरह कलवा को साथ ले चलो, लौंडिया उसीसे हिली हुई है; और फिर जाने ही कौन-सा नौकर मिल जायेगा! मगर वो तो बात सुनने के आदी ही नहीं। अब कहां से लाऊं इसका कलवा?" अम्मी बड़े बेचारेपन से मुझे रोता देखने लगीं। मैंने डरकर अपनी आवाज कम कर ली। मुझे मालूम था कि अम्मी रोने पर दो-चार हाथ जड़ देती हैं, लेकिन वे तो एकदम सलमा आपा, छोटे भैया और बड़े भैया पर बरस पड़ीं, "अरे, तुम इतने बड़े-बड़े ढींग उछल रहे हो, पर क्या मजाल जो जरा देर इसे भी साथ खिला लो। अब इसके साथ के खेलने वाले बच्चे मैं कहां से लाऊं? जी चाहता है मार-मारकर दांत तोड़ दूं तुम तीनों के।"

मेरा रोना बिलकुल कम हो गया। उनपर डाट पड़ी तो अपना दिल खुश हो रहा था। सलमा आपा बड़ी उकताहट के साथ आईं और मेरा हाथ पकड़कर खेंचने लगीं, "चलो, मोर पकड़ें।"

मैं उनके साथ हो ली, लेकिन जरा देर में ही बड़े भैया ने मुझे एक चपत जड़ दी, और मैं भों-भों रोती अम्मी के पास आ गई।

"हाय अल्लाह! मैं क्या करूं!" अम्मी ने मुझे लिपटा लिया, "मैं मारूंगी उस मनहूस-सूरत को!" वे मेरे आंसू पोंछते हुए बोलीं, "ऐ भई चपरासी! तुम बस जल्दी से नौकरों का इन्तजाम कर दो। एक औरत जो खाना पकाए, और एक ऊपर के काम के लिए लड़का, जो इसे भी संभाले, वरना यह तो मेरी जान खा लेगी।"

"अभी सब कर दूंगा बीबीजी। यहां नौकरों की कोई कमी नहीं।"

"हमें तो कलवा ला दो !" मैंने सिसकते हुए कहा।

"कलवा से अच्छा नौकर लाऊंगा बिटिया के लिए !" चपरासी ने मुझे गोद में उठाना चाहा तो मैं मचलकर अम्मी से लिपट गई। रोना फिर तेज़ हो गया। बड़े भैया तालियां बजा रहे थे, "रजिया अपने काले मुह वाले को याद कर रही है ! उसका मुह यूं था…!" और बड़े भैया ने कलवा के मुंह की नक़ल की, और मैंने कोसना शुरू किया :

"अल्लाह करे मर जाए ! अल्लाह करे लाश निकले, अल्लाह करे…"

"भागो यहां से।" अम्मी को अपने लाडले बेटे पर लाड़ आ रहा था; वे हंसने लगी। चपरासी भी हंस पड़ा। मेरा जी चाहा कि सबके मुह नोच लूं। लेकिन अम्मी ने मुझे छाती से लगा लिया। फिर धीरे-धीरे सिर सहलाया और न जाने कब मैं सो गई। अब कलवा मेरे पास था। मैंने बड़े भैया की शिकायत की कि वे तुम्हारी नक़ल करते हैं। वह दांत निकाल-कर हंसने लगा। मैंने जी भरकर घोड़े की सवारी और खूब गेंद खेली। जब आंख खुली तो शाम हो रही थी। कलवा कहीं भी न था। हां, एक आदमी मेरे पलग के पास खड़ा था। लम्बी-सी दाढी। होंठों के पास कई बाल सफ़ेद हो रहे थे। उसकी आंखें बहुत छोटी थीं और मुह खूब फूला हुआ था। वह बड़ा मोटा और लम्बा था।

"लो, इसे उठा लो और जरा बाहर सैर करा लाओ।" अम्मी ने उससे कहा।

"चलो छोटी बीबी, मैं तुमको बाहर घुमा लाऊं।"

मैं उठकर अम्मी की टांगों से लिपट गई और उस आदमी से बोली, "एं, भाग जा।"

"कमबख्त पांच साल की हो गई, लेकिन हर वक़्त मेरी बोटियां नोचती है !" अम्मी ने मुझे धक्का दिया, "आखिर और भी तो बच्चे है। सारा दिन मजे से खेलते-कूदते हैं।"

मैंने बड़ी दर्दीली आवाज़ में रोना शुरू कर दिया। वह आदमी मेरी

तरफ़ बढ़ा और अपने बड़े-बड़े हाथों में मुझे दबोचकर बाहर आ गया।

"अच्छी बिटिया रानी को हम तितली पकड़कर देंगे और लाल-लाल बीरबहूटियां दिखाएंगे और बाजार से मिठाई लाएंगे!" उसने अपनी जेब में पैसे खनकाए, "और बिटिया को खेल दिखाएंगे।" उसने मुझे घास पर खड़ा कर दिया। फिर एकदम बिल्ली की बोली बोलने लगा। बन्दर की तरह आंखें मटकाई और जमीन पर क़लाबाजी खाते हुए भद् से चित गिर गया। मैं रोना भूल गई। उसकी इन हरकतों से बड़ा मजा आया। मैं जोर-जोर से हंसने लगी, "यों नहीं, घोड़ा बनो।"

वह घोड़ा बन गया। मैं उसकी पीठ पर सवार हो गई।

"अरे, यह लो बिटिया!" उसने मुझे पीठ पर से उतारकर छोटी-सी बीरबहूटी दिखाई।

"हमारा कलवा तो हमें इतनी बहुत-बहुत-सी पकड़कर देता था!" बीरबहूटी मुट्ठी में दाबकर मैं झूठ बोली।

"हम भी पकड़कर देंगे—कलवा कौन था?"

"हमारा नौकर!" मैंने बड़े फ़ख्र से गर्दन अकड़ाई, "वह हमें अपने पैसों से मिठाई खिलाता था और हमारे साथ गेंद खेलता था।"

"हम भी तो नौकर हैं तुम्हारे, और चलो, अभी मिठाई लाते हैं।"

"हूं, बड़े लाओगे, अम्मा पैसे कहां देंगी! वो तो कहती हैं, बाजार की चीजें गंदी होती हैं।"

"पैसे तो हमारे पास हैं।" उसने जेब से दो पैसे निकालकर दिखाए।

"हूं! बस, दो पैसे! हमारा कलवा तो दो-दो आने की मिठाई खिलाता था।" मैं फिर झूठ बोली। कलवा तो बस जभी मिठाई खिलाता था जब उसे तनख्वाह मिलती थी, और वह भी दो पैसे की। उसमें से भी आधी खुद खा जाता था।

"दो आने की भी खिलाएंगे बिटिया रानी को।" वह मेरी उंगली पकड़कर बाजार की तरफ़ चल दिया। अब अंधेरा हो रहा था और मेंढकों के बोलने की आवाज आ रही थी। एक घर से किसी औरत के गाने की

आवाज आ रही थी। वह बार-बार 'प्रभु-प्रभु' पुकार रही थी।

"यह कौन गा रहा है ?"

"पता नहीं बिटिया, यह घर एक बड़े बनिये का है।"

हम एक बड़े-से फाटक से गुजरे तो मिठाई की दुकानें आ गईं। उसने मुझे दो पैसे की जलेबियां लेकर दीं। मैंने वहीं खड़े-खड़े खानी चाहीं, तो उसने रोक दिया।

"नहीं बिटिया, यहां नहीं खाते बड़े आदमियों के बच्चे, घर चलकर खाएंगे।"

रास्ते में मैंने जलेबियां खा लीं। मुझे डर था कि कलवा की तरह वह भी हिस्सा बटाएगा, लेकिन उसने तो एक बार भी नहीं मांगी।

"अम्मी से न कहना।"

"नहीं, मैं नहीं कहूंगा।"

घर पहुंचे तो अब्बा आ चुके थे। सलमा आपा, छोटे भैया और बड़े भैया शरीफ़ों की तरह उनके पास बैठे बातें कर रहे थे। अब्बा ने मुझे देखते ही हाथ फैला दिए। मैं दौड़कर उनसे लिपट गई।

"अच्छा तो चपरासी यह नौकर लाया है।" अब्बा ने नौकर की तरफ़ देखते हुए अम्मी से पूछा। वह सिर झुकाए चुपचाप खड़ा था।

"हां, यही लाया है तुम्हारा चपरासी।" अम्मी हंसीं।

"भई, यह तो बिलकुल 'बोरका' मालूम होता है—काम भी कर सकेगा यह—क्या नाम है तुम्हारा ?"

"रहीम।"

"अब्बाजी, यह तो बहुत अच्छा है !" मैंने जल्दी से कहा। होंठ अब तक मीठे हो रहे थे।

"हां, हां—यह तो 'बोरका' है !" बड़े भाई ने फ़ौरन ताली बजाई। अब्बा और अम्मी एकदम हंस पड़े। रहीम ने गर्दन उठाकर सबकी तरफ़ देखा और फिर गर्दन झुका ली।

"देखो, यहां घास बहुत है, बच्ची को रात बाहर न ले जाया करो।

कोई कीड़ा-वीड़ा काट लेगा—समझ गए ?" अब्बा ने समझाया।

"जी !"

"ए 'बोरका', हमें पानी पिला दो।" बड़े भैया ने कहा और वह रसोईघर की तरफ़ बढ़ा।

" 'बोरका' हमे भी देना।" सलमा आपा को भी प्यास लग आई।

" 'बोरका' हम भी पिएंगे।" छोटे भैया ने भी हुक्म लगाया।

"बुरी बात ! उसका नाम रहीम है।" अब्बा ने प्यार से डांटा और हसने लगे।

"लो, तो क्या हुआ, कहने दो, बच्चे हैं ! आखिर यह भी तो नाम है।" अम्मी के माथे पर बल पड़ गए।

"अरे, 'बोरका', यह मेज पर से चाय के बरतन उठाकर रसोई मे ले जाओ !" अम्मी खिलखिलाकर हसी। अब्बा ने भी जोर का क़हकहा लगाया। रहीम ने जाने कैसी नजरों से सबकी तरफ़ देखा और फिर खुद भी हंस दिया।

"भई, क्या हर्ज है जो हम तुम्हारा नाम ही 'बोरका' रख दे !" अम्मी ने अपनी हसी रोकते हुए कहा।

"रख दें बीबीजी, आप माई-बाप हैं !" रहीम बरतन लेकर चला गया।

रहीम का नाम 'बोरका' हो गया। घर में सब लोग बड़ी बेतकल्लुफी मे उसे 'बोरका' कहते और वह 'जी' कहता हुआ बढ़ता। मैं भी अब उसको इसी नाम से पुकारने लगी थी। वह मुझसे बड़े प्यार से बोलता। मुझे चुपके-चुपके मिठाई खिलाता। मैं सलमा आपा और दोनों भाइयों की बुराई करती, तो वह भी मेरा साथ देता; लेकिन साथ ही यह भी समझाता कि मैं उनसे कुछ न कहूं, वरना बीबीजी सुनकर नाराज होंगी। भला मुझे क्या पड़ी थी जो किसीसे शिकायत करती अपने बोरका की। इतने बड़े-बड़े होकर अव्वल नम्बर के बदतमीज थे ! हर वक्त मेरे पीछे पड़े रहते कि मैं तो बस बोरका से खेलती हूं। वे बोरका के मुंह की

हज़ार-हज़ार नकलें उतारते। मैं ज़मीन पर लोट-लोटकर रोती, मगर किसीको कुछ ख़्याल ही न आता।

एक दिन मैंने बोरका को बड़े गुस्से में देखा। बात सिर्फ़ इतनी थी कि बावर्चिन ने उसे 'बोरका' कहकर आवाज़ दे दी थी।

वह गुस्से से चीख़ने लगा, "बोरका होगा तेरा बाप, तेरा दादा!" बावर्चिन ने भी उसके बाप-दादा को खूब गालियां दी, और फिर रोती हुई अम्मी के पास चली गई और बोरका की शिकायत करने लगी—सारी बातें सुनकर अम्मी हंस दीं।

"देखो, अब तुम इसे 'बोरका' मत कहना। और देखो बोरका, इतनी जल्दी किसीके बाप-दादा तक नही पहुंचा करते!" अम्मी ने दोनों को समझाया।

"पर बीवीजी, इसने कहा क्यों, मैं कौन-सा इसका दिया खाता हू!"

"चलो छोड़ो, दोनों मेल कर लो।" अम्मी बराबर हंस रही थीं। बावर्चिन आंसू पोंछती रसोईघर में चली गई और बोरका मुझे लेकर बाहर आ गया। वह अब तक ग़ुस्से मे था। उसका मुंह चुकन्दर की तरह लाल हो रहा था। मैंने कहा, "बोरका, तुम हमसे तो नाराज़ नहीं होगे, हम भी तो बोरका कहते है?"

"नहीं बिटिया रानी, तुम तो शहज़ादी हो! हम तुम्हारे नौकर है। तुम जो चाहो कहो।" उसने मुझे गले लगा लिया।

इस क़िस्से के बाद जाने क्या हुआ कि फिर बोरका ने बावर्चिन से बात न की। न वह कभी उसके रसोईघर में जाकर बैठता और न मुझे बाज़ार ले जाता। मैं रोज़ ज़िद करती तो वह समझाता कि अच्छी बेटियां बाज़ार नही जातीं। एक दिन मैंने बहुत ज़िद की तो कहने लगा कि अच्छा, ले चलता हू; मगर देखो रानी बिटिया, बाज़ार में बोरका न कहना। वहां तुम मुझे रहीम बाबा कहना, नहीं तो मैं मिठाई लेकर नही दूगा। मैंने वायदा कर लिया और वह मुझे बाज़ार ले गया। बार-बार मेरी ज़बान पर बोरका का नाम आता, मगर मैं तभी रहीम बाबा कहने लगती।

मिठाई खिलाकर उसने वापसी में मुझे अपने कंधों पर बिठाकर कहा, "बिटिया रानी तुम, मुझे बोरका न कहा करो, रहीम बाबा ही कहा करो।"

"अच्छा, अब मैं यही कहूंगी।"

"अब हम अपनी बिटिया को बहुत-सी मिठाई खिलाएंगे।"

"मैं बड़े भैया, छोटे भैया और सलमा आपा से भी कहूंगी कि वो रहीम बाबा कहें, है ना ?"

"अच्छा…"वह कुछ सोचने लगा।

घर जाकर जब मैंने उसे 'रहीम बाबा' कहा तो बड़े भैया और सलमा आपा हंस-हंसकर लोट-पोट हो गए, "रजिया का बाबा बोरका, रजिया का बाबा बोरका, रजिया बोरकी, रजिया बोरकी !"

मैंने जमीन पर लेटकर रोना शुरू कर दिया। अम्मी ने बहुत धमकाया कि अगर इसे 'बोरकी' कहा तो जबान जला दूंगी। मगर बड़े भैया न माने, "तो फिर यह बोरका को बाबा क्यों कहती है—हम तो इसे बोरकी कहेंगे !"

बोरका मुझे समझा-बुझाकर फिर बाहर उठा ले गया, "बिटिया, अब तुम मुझे रहीम बाबा मत कहना, नहीं तो सारे बच्चे तुमको बोरकी कहेंगे !" उसने मेरे आंसू पोंछते हुए समझाया।

"क्या बोरका बुरी बात होती है ?"

"नहीं बिटिया, बस नाम होता है।" वह खिसियाकर हंसने लगा।

एक दिन शाम को बोरका घर में काम कर रहा था, इसलिए अब्बा मेरी उंगली पकड़कर बाहर टहलाने के लिए अपने साथ ले गए। उनके साथ टहलते हुए मुझे जरा भी अच्छा न लग रहा था। भला अब्बा बच्चों से खेलना क्या जानें ! मैं बार-बार घर में जाने की कोशिश करती, मगर अब्बा उंगली न छोड़ते। अभी हम टहल ही रहे थे कि दो आदमी बड़ी-बड़ी पगड़ियां बांधे और हाथों में मोटे-मोटे लठ पकड़े आ गए। उन्होंने अब्बा को झुककर सलाम किया। मुझे उनकी लाठियों से ऐसा डर लगा कि अब्बा के पीछे छुप गई।

"क्या बात है ?"

"हुजूर, रहीम से मिलना है। हम उसके गांव से आए हैं, अपना यार है।"

"अरे, मियां बोरका !" अब्बा ने आवाज दी।

"आया बाबूजी !" भीतर से उसने जवाब दिया और दौडता हुआ बाहर आ गया। दोनों आदमियों को सामने देखा तो ठिठक गया।

"देखो बोरका, ये तुम्हारे मिलने वाले आए हैं। इनके लिए अन्दर से पलंग उठा लाओ और बावर्चिन से कहो कि तुम्हारे दोस्तों के लिए चाय बनाए।" यह कहकर अब्बा भीतर चले गए, मैंने बोरका का हाथ पकड़ लिया।

"अबे क्या नाम रख लिया—बोरका !" वे दोनों आदमी ज़ोर-ज़ोर से हंसने लगे। बोरका बिलकुल चुप रहा। भीतर जाकर पलंग उठा लाया। वे दोनों उसपर बैठ गए। उन्होंने बहुत-सी बातें कीं, लेकिन बोरका चुप-चाप बैठा रहा।

"अमा, चुप बैठे हो, कुछ तबीयत ख़राब है तुम्हारी ?"

"सिर में बहुत दर्द है।" बोरका ने दोनों हाथों से सिर दबाकर छोड दिया। फिर वह गांव वालों का हाल-चाल पूछता रहा। चाय पीने के बाद वे आदमी खडे हो गए।

"अच्छा, तो मियां बोरका ! अब चलें, फिर आएंगे।" वे फिर हंसने लगे। बोरका ज़रा भी नहीं हंसा। उनसे हाथ मिलाकर जल्दी से मेरी उंगली पकड़ी और घर में आ गया। वे आदमी अभी गए नहीं थे, क्योंकि उनकी हंसी की आवाज आ रही थी। उस दिन मैं ज़िद करते-करते सो गई, लेकिन बोरका ने न तो मुझे कहानी सुनाई और न बातें कीं।

एक दिन न जाने क्यों, मुझे बोरका के घर का ख्याल आ गया, "बोरका, तुम्हारा घर है ?"

"है, बिटियारानी।"

"और हमारे जैसी कोई लड़की भी है ?"

"नहीं।" बोरका लम्बी-लम्बी सांसें भरने लगा।

"तुम्हारी बीवी भी है, ऐसे ही जैसे हमारे अब्बाजी की बीवी हमारी अम्मी है।"

"है।" बोरका हंसते-हंसते लोट गया। मैं नाराज़ हो गई। उसने बड़ी मुश्किल से मनाया।

"हमें अपने घर ले चलो।"

"ले चलेंगे और बिटिया रानी की दावत भी करेंगे।"

उस दिन शाम को जब अब्बा आए तो बोरका उनके सामने हाथ बांधकर खड़ा हो गया :

"बाबूजी, मैं बिटिया रानी को कल अपने घर ले जाऊंगा, इनकी दावत है हमारे घर।"

"अरे, तुम्हारी भी बीवी है बोरका ?" अम्मी हंसी।

"जी, बीबीजी ! तीन बीवियां तो अल्लाह को प्यारी हो गईं, अब थोड़े दिन हुए शादी की है।"

"ले जाना, मगर जल्दी ले आना।" अब्बा ने इजाज़त दे दी। खुशी के मारे मैंने छोटे भैया को जबान चिढ़ा दी। बोरका कमरे से चला गया तो अब्बा अम्मी को देखकर हंसने लगे।

"मेरा ख्याल है, बोरका की बीवियां इसकी सूरत देखकर मर गई होंगी ! भई, किस ग़जब की सूरत पाई है—उसपर यह लम्बी दाढ़ी !"

मुझे अब्बा की ये बातें बिलकुल अच्छी नहीं लगीं। मैं चुपके-चुपके बुदबुदाती रही, "बड़े आए हैं हमारे बोरका को बुरा कहने वाले !"

दूसरे दिन बोरका ने मुझे बताया कि उसकी बीवी ने मेरे लिए बड़ी अच्छी गुड़िया बनाई है, और आज दोपहर को मेरी दावत भी है। उसने खुद अपनी पसंद से मुझे लाल रंग की फ्राक पहनाई। बहुत-सा पाउडर लगाया। जूतों पर खूब रगड़-रगड़कर पालिश की। बड़े भैया और सलमा आपा मुझसे खूब जलीं। उन्होंने मुझे इतना सताया कि मेरा सारा पाउडर आंसुओं में बह गया। अम्मी के टोकने पर भी बड़े भैया बार-बार यही

कहते रहे कि मैं बोरका के घर का खाना खाकर बोरकी हो जाऊंगी। बोरका उसी हालत में मुझे उठाकर बाहर ले आया। मेरे आंसू पोंछे और अपने साथ ले चला।

रास्ते में उसने मुझे समझाया कि मैं उसकी बीवी के सामने उसे रहीम बाबा कहूं।

"और अगर कहा बोरका कहा, तो क्या होगा रहीम बाबा?"

"वह मुझे मारेगी, और घर से निकाल देगी।"

"मैं क्यों कहने लगी, मैं तो रहीम बाबा कहूंगी।"

जब घर पास आया तो वह रुक गया, "क्या कहोगी मुझे?"

"बोर···रे···रहीम बाबा!"

"शाबाश! फिर कहो।"

"रहीम बाबा!"

जब हम दरवाजे पर पहुंचे तो टाट के पर्दे के पास एक लड़की खड़ी थी। बड़ी गोरी, छोटी-छोटी आंखों वाली। उसने आगे बढ़कर मुझे गले से लगा लिया।

"ये हैं छोटी बीबी!" उसने मुझे आंगन में बिछे हुए पलंग पर बिठा दिया, जिसपर बड़ी साफ़ चादर बिछी हुई थी।

"ये रोज तुम्हारी बातें करते थे।" वह मेरे पास बैठ गई, "बड़ी अच्छी हैं बिटिया रानी!" वह मेरी फ्राक का गला देखने लगी, "किसने बनाई है यह फ्राक?"

"दर्ज़ी ने!"

"अच्छा, अब जाकर खाना तो ला और गुड़िया भी ले आ बिटिया के लिए।" बोरका मेरे पास ही पालती मारकर बैठ गया।

"अरे बोर···रहीम बाबा, यह तुम्हारी बीवी है?" जब वह चली गई तो मैंने धीरे से पूछा।

"हूं! देखो बिटिया रानी, बोरका न कहना।"

"बिलकुल नहीं कहूंगी।"

उसकी बीवी शर्माई हुई आई और गुड़िया मेरे हाथ में थमा दी। कितनी अच्छी गुड़िया थी! बड़ी-बड़ी आंखों वाली और रेशमी कपड़े पहने हुए थी। मैं गुड़िया को उलट-पलटकर देख रही थी और बोरका खुश हो-होकर मुझे देख रहा था। उसकी बीवी आगन के कोने में बने हुए चूल्हे के पास बैठी थी और चीनी की प्लेटों मे खाना निकाल रही थी।

"ऐजी, मैंने कहा, बच्चे भी कितने भले लगते हैं! घर में उजाला रहता है!" उसकी बीवी ने दो प्लेटे मेरे सामने रखकर बोरका को देखा, और फिर न जाने क्यों दुपट्टे के पल्लू से मुह छुपाकर खड़ी हो गई। बोरका ने इशारे से न जाने उसे क्या कहा। मै तो मीठे चावल और खीर खाने मे जुटी हुई थी। आज तो मेरी ज़िद पर बोरका ने भी मेरे साथ ही खाना खाया। खाने के बाद वह उठ खड़ा हुआ, "बिटिया रानी, मैं ज़रा बाहर से हुक्का पी आऊं। मेरा हुक्का टूट गया है, तुम जब तक अपनी गुड़िया से खेलो।"

"जल्दी आ जाना।"

"बस, अभी आया!"

उसके जाने के बाद उसकी बीवी मेरे पास बैठ गई, "हम तुम्हारी अम्मी के पास आएंगे। एक दिन इनसे कहूंगी कि ले चले।"

"ज़रूर आना।"

"तुम बड़ी अच्छी बिटिया हो!" वह मुझसे बड़े प्यार से बातें कर रही थी, फिर भी न जाने क्यों वह मुझे अच्छी न लग रही थी। बोरका के न रहने से मैं जरा देर में ही घबराने लगी। मुझे अम्मी भी याद आने लगी।

"अभी तक नहीं आया बोरका!" घबराहट में मै भूल गई कि यहां उसे बोरका नहीं कहना चाहिए था।

"कौन बोरका?" उसकी बीवी ने हैरानी से पूछा।

"वह ना, वह जो हमारा रहीम बाबा है। हम तो उसे रहीम बाबा

कहते हैं। बोरका तो बड़े भैया, छोटे भैया, सलमा आपा, अब्बा और अम्मी कहती हैं। हमने तो भूले से कह दिया है!"

"अरे वाह बिटिया रानी, तुमने देखा है बोरका?" और उसकी बीवी हंसने-हंसते बिस्तर पर लोटने लगी, "बोरका, बोरका!" वह बराबर हंसे जा रही थी। मैं सहमी बैठी थी कि अब यह कहीं हमारे बोरका को घर से न निकाल दे, और कहीं उसे मारे नहीं। वह हंस रही थी कि इतने में बोरका आ गया।

"क्या कहते है तुमको सब लोग···बोरका?"

बोरका ने मेरी तरफ़ देखा और फिर अपनी बीवी को घूरा। उसका मुंह लाल हो रहा था।

"अरे वाह, घूरते क्यों हो, हम न कहें बोरका, हम भी तुम्हें बोरका कहेंगे!" वह हंसी से लोट-पोट हो रही थी।

"क्या कहेगी?" वह उसकी तरफ़ झपटा और खूब जोर-जोर से मारने लगा। उसकी बीवी एकदम चुप हो गई। खड़ी होकर उसे घूरने लगी। फिर ज़ोर से चीखी :

"मुझे मारता है, ले मार! अब तो मैं रोज़ कहूंगी—बोरका, बोरका!"

अब वह पांव से जूता उतारकर उसे पीटने लगा। वह जोर-ज़ोर से रोने और चीखने लगी, "मार ले बोरका, जो तेरे घर रह जाऊं तो अपने बाप से नहीं!"

मैं डर के मारे चीखने लगी तो बोरका ने जूता पांव में डालकर मुझे उठा लिया। उसकी बीवी मुंह छुपाए रो रही थी। बोरका थोड़ी देर तक खड़ा उसे देखता रहा। फिर बोला, "अब चुप हो जा, मेरे हाथ जल जाएं।" और यह कहकर वह जल्दी से बाहर निकल गया। रास्ता-भर न तो मैं डर के मारे कुछ बोली और न बोरका ने कोई बात की। जब मैं घर के अन्दर जाने लगी तो उसने मुझे रोक लिया, "बिटिया रानी, बीबीजी को कुछ न बताना, नहीं तो मैं चला जाऊंगा।"

मैंने घर में कुछ भी न बताया। सलमा आपा मेरी गुड़िया देख-देखकर कुढ़ती रहीं। बड़े भैया ने गुड़िया की चोटी पकड़कर उसे मारा भी। मैं रोने के अलावा क्या कर सकती थी! अम्मी ने बड़ी मुश्किल से मेरी गुड़िया की जान बचाई।

बोरका तीन-चार घंटे के बाद घर में आया तो अम्मी ने बुरी तरह डांटा कि घर में सारा काम पड़ा है और तुम लाटसाहबों की तरह घूमते फिर रहे हो।

"अपने घर में ज़रूरी काम था बीबीजी!" यह कहकर वह बड़ी बेदिली से काम करने लगा और फिर ज़रा देर में मुझे उठाकर बाहर जा बैठा। उसकी आखें बीरबहूटी की तरह लाल-लाल हो रही थीं। उसने मुझसे बात भी नहीं की। जब मैंने जिद की कि वह घोड़ा बने तो जाने क्यों वह गले से लगाकर रोने लगा।

"क्यों रो रहे हो?" मैं उसके आसू पोंछने लगी।

"मैंने अपनी बीबी को मारा था ना!"

"क्यों मारा था बोरका?"

"ऐसे ही बिटिया रानी।"

"तो अब मत रो, नहीं तो मैं भी रोऊंगी।"

"कितने हाथ-पैर जोड़कर शादी की थी...और अब मारता हू।" वह और भी फूट-फूटकर रोने लगा, लेकिन जैसे ही मैंने मुह बिसूरा, वह एक-दम चुप हो गया।

थोड़ी देर बाद उसने मुझे घर के अन्दर भेज दिया और खुद अम्मी से कुछ कहे बिना चला गया।

सुबह के दस बज गए, अब्बा दफ्तर चले गए, लेकिन बोरका नही आया। अम्मी बराबर गुस्से होती रहीं। बोरका के बिना मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था। मैं उसके इन्तजार में बाहर दरवाजे पर खड़ी हो गई। थोड़ी देर बाद वह सामने से आता हुआ नजर पड़ा। मैं दौड़कर उससे लिपट गई। उसने मेरे सिर पर हाथ फेरा और फिर कंधे पर बिठा

लिया। उसकी आंखें अब और भी लाल हो रही थीं।

"अम्मी तुमसे बहुत नाराज हैं।"

"हूं।" उसने मुझे कंधे से उतार दिया।

"बिटिया रानी, मैं तुम्हारे लिए मिठाई ले आऊं।" उसने जेब में हाथ डालकर एक रुपया निकाल लिया। यह रुपया अब्बा ने कल उसे इनाम में दिया था। रुपया उसने मेरी हथेली पर रख दिया, "यह अपने पास रख लो, कल इसकी मिठाई आएगी।"

"और आज ?" रुपया मैंने मुट्ठी में छुपा लिया।

"आज के लिए तो मेरे पास पैसे हैं, बस अभी लाया !" और वह मेरे सिर पर हाथ फेरकर चला गया। बहुत देर हो गई, लेकिन बोरका मिठाई लेकर न आया। खड़े-खड़े जब पांव थक गए तो मैं अन्दर आ गई। अम्मी काम करती जाती थीं और बोरका को बुरा-भला कहती जाती थीं। मैंने डर के मारे यह नहीं बताया कि वह मेरे लिए मिठाई लेने गया है।

शाम हो गई, लेकिन वह मिठाई लेकर नहीं आया। मैंने दरवाजे के पचासों चक्कर लगाए। मुझे बार-बार ख्याल आ रहा था कि आज वह भी कलवा की तरह मिठाई खा गया होगा, इसलिए नहीं आया। अब्बा के आने पर अम्मी ने शिकायत की कि बोरका सुबह से गायब है, उसकी एक दिन की तनख्वाह जरूर काटी जाए। अब्बा ने समझाया कि वह जरूर बीमार हो गया होगा। फिर उन्होंने बावर्चिन से कहा कि जाकर बोरका के घर से मालूम करे कि वह क्यों नहीं आया।

बावर्चिन बड़ी देर में आई, और अब्बा के पूछने पर भी कुछ न बोली। अम्मी के पास बैठकर खुसर-पुसर करने लगी।

"हैं !" अम्मी ने दांतों तले उंगली दबा ली, और बावर्चिन उठकर बावर्चीखाने में चली गई।

"क्या बात है ?" अब्बा ने अम्मी के क़रीब जाकर पूछा।

"मुहल्ले वालों ने बताया है कि उसकी बीवी भाग गई है, और वह भी इस ग़म में कहीं चला गया है। सामान तक नहीं ले गया। किसी मोहल्ले

वाले ने घर में ताला लगा दिया है।"

"तो फिर हमें अपना दूसरा इन्तज़ाम कर लेना चाहिए। बावर्चिन से कहो कि रात जाते हुए चपरासी से कह दे कि सुबह तक दूसरा नौकर ले आए। भई, काम खूब करता था वोरका। अभी तो उसकी पूरी तनख्वाह भी बाक़ी है।" अब्बा इस तरह बातें कर रहे थे जैसे कोई बात ही नहीं हुई। मैं अपने बिस्तर पर लेटी थी। अब्बा के डर से आवाज़ न निकाल सकी। बस घुट-घुटकर रोती रही और खाना खाए बग़ैर सो गई।

सुबह जब आंख खुली तो दूसरा नौकर काम कर रहा था और अम्मी माथा पीट-पीटकर कह रही थीं, "अरे, यह तो बिलकुल बांगड़ू है, इसे तो कोई काम नहीं आता ! यह चपरासी क्या वबाल दे गया है !"

'बांगड़ू है, बांगड़ू है !" बड़े भैया तालियां पीट रहे थे और बांगड़ू मुंह उठाए टुकर-टुकर सबकी तरफ़ देख रहा था। वह मेरी तरफ़ बढ़ा तो मैं बिस्तर पर मचल गई :

"हम तो वोरका से उठेंगे !" मैं कलेजा फाड़-फड़ाकर रोने लगी।

## क़ुर्रतुलैन हैदर*

१६२६ ई० में अलीगढ़ में मेरा जन्म हुआ। काफ़ी समय तक पोर्ट ब्लेयर में भी रही। मैट्रिक बनारस विश्वविद्यालय से और बी० ए० और एम० ए० 'अज़वला योवरन कालेज' लखनऊ से किया। भारत-विभाजन के बाद पहले कोयटा में और फिर कराची में रही। इन दिनों भारत में आई हुई हूं। अब तक कहानियों के दो संग्रह 'सितारों से आगे' और 'शीशे के घर' और दो उपन्यास 'मेरे भी सनमख़ाने' और 'आग का दरिया' प्रकाशित हो चुके हैं। 'सीता-हरण' लिखा रखा है।

आज का पता : द्वारा फ़िलमालय, अंधेरी, बम्बई।

---

* उर्दू के सुप्रसिद्ध लेखक स्वर्गीय सज्जाद हैदर यलदरम की पुत्री हैं

# जहां फूल खिलते हैं

बंगाल की खाड़ी के उन दूर-दराज हरे टापुओं में जब हम नारियल के ऊंचे पेड़ों के नीचे रेत के महल बनाते थे या जब कैपेसियन के किनारे छानों के साये में बैठते थे या जब हम गंगा की महान लहरों पर सफ़ेद केबिन और नीले पर्दोंवाले स्टीमरों में घूमते थे—उन अजीब दूर-दराज जमानों से लेकर अब तक, इन बाइस सालों की रेतों पर चलते हुए मैं वक्त के इस किनारे पर आई हूं, जहां सिर्फ़ अप्रैल की रात की अथाह, खुलती-उभरती खुशबू है और रात के लम्हे (क्षण) सरसराते हुए मेरे ऊपर से गुज़रते जा रहे हैं।

इन सरसराते लम्हों से मैंने पूछा : अप्रैल की रात के लम्हो ! इस तरह तैरते हुए किस तरफ़ जाओगे—और आगे, और आगे, वक्त के बहते हुए अंधेरे में तुम कितनी दूर तक फैलोगे और कहां पहुंचकर खत्म हो जाओगे ? वक्त की अथाह, गंभीर ख़ामोशी की लहरों पर डोलते हुए इन लम्हों को मैंने चुपके से बताया—मैंने बताया कि मैंने तुम्हें पहचाना है, और फ़रिश्तों से दुआ मांगी है कि कायनात पर उदासी फैलाए बगैर तुम योंही सरसराते, बहते, आगे चले जाओ।

अप्रैल की रात के ठंडे लम्हो ! तुम आनेवाले बर्सों की लम्बी-लड़खड़ाती क़तारों तक पहुंचकर कहां चले जाओगे ? आज की रात मैंने पिछले सब जमानों को इकट्ठा करके एक तरफ़ रख दिया है, और मैं पीछे की तरफ़ देख रही हूं ''' जर्द पहाड़ी गुलाब की महक, नवीं सिम्फ़नी के सुर, बारिश में भीगे, बल खाते, नीले और सब्ज पहाड़ी रास्ते, जिनपर स्कूल की बच्चियां क्रिस्मस के गीत गाती गुज़रा करती थीं, ओन्यूलक[१]

१. प्याज के छिलके-सा महीन एक कपड़ा

के लिबास—उन सबको इकट्ठा करके मैंने एक तरफ़ रख दिया है, ताकि तुम इसी तरह चुपचाप उड़ते रहो और कोई चीज़ तुम्हारी राह में रुकावट न बने।

काली लहरें आगे बढ़ती है, पीछे हटती हैं, और वापस चली जाती हैं। एक रेले के बाद दूसरा रेला, और खामोशी से कपकपाते खम्भों की क़तारें एक-दूसरे का पीछा करती आगे रवाना हो जाती है, और ठहरा हुआ एकाकीपन कायनात के ज़र्द, चारों ओर फैले हुए मैदानों के ऊपर झुका रोता-चिल्लाता रहता है। और क्या ऐसा महसूस नहीं होता कि सब चीजों का अंजाम बहुत अच्छा होगा और हम सब यकीनन ज़िन्दा रह पाएंगे? अप्रैल की रात के इन लम्हों के नीचे मैंने अपने बाप से कहा, "मेरे बहुत प्यारे अब्बा मियां, वुजूद (अस्तित्व) की इस 'इण्टेनसिटी' (तीव्रता) को तुमने महसूस किया था?..."

हां, वह मेरा बाप था, जो ग्यारह अप्रैल की इस रात को खत्म हुआ। आधी रात के ठंडे, नर्म अतलसी लम्हो, योंही खामोशी से बहते अंधेरे में घुलते मेरे ऊपर से गुज़रते रहो, क्योंकि मैं तुम्हें चुपके से यही बताना चाहती थी कि आज की रात अब्बा मियां चले गए थे। उन्हें जर्द पहाड़ी गुलाब की महक पसंद थी, और नवीं सिम्फ़नी के सुरों की लहरें भी, और जब वे चुपचाप थक और उकताकर आराम से अपनी मसहरी पर सो गए तो बहुत-से लोग आए और उन्हें उनकी ख़्वाबगाह (शयनगृह) में से उठाकर उस बरसाती में ले गए जिसका रास्ता पिछवाड़े बाग़ की तरफ जाता था। जहां 'हौली होक्स' के ऊंचे डंठल फूलों के बोझ से झुक आए थे, क्योंकि वह अप्रैल का महीना था—और बरसाती में से वो उन्हें गोमती के किनारे-किनारे उस जगह ले गए जहां पुराने बादशाहों के अच्छे ज़मानों में आलीशान मेले लगा करते थे। वह जगह ऐशबाग़ कहलाती थी और वहां पुराने, भूरे, और भयानक इमामबाड़ों और भेद-भरी अंधेरी मस्जिदों के कांपते-डोलते मीनारों के साये में चंबेली की झाड़ियों के पीछे वो लोग उन्हें छुपा आए। अप्रैल की उस ठंडी, शीतल रात और ठंडी, शीतल सुबह

यह सब हुआ था जबकि बाग में 'हौली होक्स' के फूल खिल रहे थे।

ज़िन्दगी की शिद्दत, ज़िन्दगी का हुस्न—उसे उस इन्सान ने महसूस किया और पहचाना, जो मेरा बाप था। और वह इन्सान चंबेली की झाड़ियों और खुशबूदार जंगली पौदों में छुप गया। मैंने चुपके से कहना चाहा—'चुनाचे अब्बा मियां! तुम्हारी अलिफ़-लैला की कहानी भी खत्म हुई और तुम अवध की जमीन, उसके कुंदन रंग की खुशबूदार मिट्टी में वापस पहुंच गए। अवध का डूबता हुआ लाल सूरज, मोतिये की झाड़िया, गोमती पर से आती हुई हवाएं—ये सब तुम्हारी है। तुम कयामत तक वहीं रहोगे। तुम खुशकिस्मत थे अब्बा मियां, जो तुमने यह जमाना अपनी आंखों से न देखा। तुम ये सब देखकर जरूर गमगीन हो जाते। तारीख के धारे जब पलटते है तो ऐसा ही होता है। जगमगाते हुए 'इन्स्टिटट्यूट ऑफ़ इण्टरनेशनल आफीसर्ज' मे एक विदेशी सफ़ीर 'मोनोकल'[1] लगाए जोर-जोर से कह रहा था—तारीख के धारे···तारीख के···'घू-घू' करते तूफान गरजे और उनकी बाजगश्त (प्रतिध्वनि) आसमान में फैलती गई, और अब्बा मिया, तुम्हारी सारी लाइब्रेरी और उसकी फ्रेंच और टर्किश किताबें और रिसालों के वो पुलिंदे, जो तुम्हारे पास पैरिस, अंकरा और इस्तम्बुल से आते थे—ये सब कुछ उस सफ़ीर और उस जैसे दूसरे सफ़ीरों की बनाई हुई तारीख के धारे की जद में आ गया और तुम्हारे सारे महबूब शायर, फ़िलासफ़र और पूज्य पैगम्बर, जिन्होंने दुनिया को बचाने की जिम्मेदारी ली थी, सबके सब इस धारे मे बह गए। और हमारे बाग के पिछवाड़े शहतूत और अंजीर के झुंड में वह आदमी 'बैग-पाइप' बजा रहा था, जो बरसों से इसी तरह रोजाना सुबह-सवेरे पुरानी 'स्टॉक' धुनें बजाता इधर से गुज़रता था, और अमरूदों के झुरमुट के परे पुलिस लाइन्ज मे 'यूनियन जैक' लहराते वक्त जो बिगुल बजाया करता था, और शाम के अंधेरे में 'रीट्रीट' के वक्त जो बिगुल बजता था (जिसकी आवाज पर दिल डूबता था और घास पर शबनम के क़तरे फैल जाते थे) उस सुबह वह

१. एक ताल का चश्मा

और हमारे अहाते के युकिलप्टिस के सांय-सांय करते झुंड के सिरे पर सेमल का वह ऊंचा पेड़ हमेशा की तरह चुपचाप और अकेला खड़ा था जिसके फूलों की रुई हवा के साथ सारे घर में उड़ती फिरती थी। इस पेड़ की एक ऊंची-सी और मोटी-सी जड़ पर बैठकर मैंने लम्बी दोपहरों में इम्तिहान के लिए एक बार 'कीट्स' पर तनकीद (आलोचना) की पन्द्रह किताबें खत्म की थीं। कीट्स, जिसने ज़िन्दगी को मरकर महसूस किया और सेमल के सुर्ख़ फूल आग की तरह गिरते थे। दुनिया कितनी खूबसूरत है—मैंने आंखें बन्द कर ली और सोचा, ऐसा क्यों हुआ? यह सब क्यों हुआ? फिर मैंने चुपके से अपने अब्बा मियां से पूछना चाहा—मेरे बहुत प्यारे अब्बा मियां! तुम जानते हो, यह सब क्यों हुआ? तुम जरूर जानते होगे अब्बा मियां, कि ऐसा किसलिए हुआ, कि खुदावंद करीम के इतने अनगिनत बेचारे इन्सान यों दुखी हो जाए। क्या सचमुच हम इतने बुरे हैं? और इन दुखों और सजाओं और इम्तिहानों के हकदार हैं? लेकिन अब्बा मियां ने कोई जवाब न दिया क्योंकि वे पहले ही आगे जा चुके थे।

और सब्ज पर जहां तक नजर जाती है, भीगी हुई खुदरौ[1] झाड़ियां फैली हैं। पीछे गुसलखानों की नालियोंवाली गीली जमीन पर चुलाई उग रही है, और बाग के बड़े नाले की पुलिया के परे भूरे सूअर फिर रहे हैं और सरजू के शीतल किनारों पर मोर झंकार रहे हैं। बाहर ठंडे और सब्ज लान पर वो सब बैठे हैं और कह रहे हैं कि दूसरी जंगे-अजीम जरूर होगी। फालसे के झुंड के पार, सड़क की दूसरी तरफ ज़िला के क्लब में बड़ी गहमा-गहमी है। मोटरें जल्दी-जल्दी आ-जा रही हैं। टैनिस कोर्ट और बिलिअर्ड रूम और बार और बालरूम खाली हो चुके हैं और वो सब हाल में वायरलैस सैट के क़रीब बैठे हैं, क्योंकि यह सन् उनतालीस की तीसरी सितम्बर की शाम है। जंगे-अजीम! ओह!! अब्बा मियां ने शतरंज खेलते हुए रुख़ की शह बचाते हुए कहा, "क्या बेकार में लड़ाई

१. अपने-आप उग आनेवाले—जंगली पौधे

शुरू हो गई ! अब इस ख़िज़ा में हम विलायत नहीं जा सकते !" "अब्बा मियां, तुम कितने खुदगर्ज़ हो ! एक साल न जाओगे तो क्या कयामत आ जाएगी ! दुनिया पर तो इतनी तबाही आ गई !..." मैंने बिगड़कर कहा। "तबाही ?" उन्होंने पूछा, "तुम्हारी इस खूबसूरत दुनिया पर अम्न कब आया था और किसने आने दिया था ? इतनी इन्सानियतपरस्त बनती हो बेटा ! अभी बहुत छोटी हो ! आज से दस साल बाद मुझे बताना कि तुम इतनी ज़बरदस्त आइडियलिस्ट हो या नहीं ! खुदा करे तुम इतनी ही इन्सानियतपरस्त रह सको !"

दस साल बाद वे यह सब सुनने के लिए मौजूद नहीं है ! वे चंबेली और मोतिये के झुण्ड के पीछे जा चुके है, जहां मरी हुई सदियों के साये कपकपाते है।

"मॉरबिड लड़की ! अमां, जाओ भी क्या बातें करती हो ! मैं तो बिलकुल मॉरबिड नहीं हूं।" मैंने राहेल से डपटकर कहा जबकि नीचे 'टैरिस' पर लोग 'सेम्बा' नाच रहे थे। सुना है 'सेम्बा' शहज़ादी मारग्रेट का पसन्दीदा नाच है। अरे वाह री, शहज़ादी मारग्रेट !

हमारे सामने जो रास्ता फैला है—यह सड़क 'हॉक्स-बे' को जाती है। इसपर सिर्फ़ गिद्ध उतरते हैं और दुबली-पतली फ़ाकोंमारी भेड़ें किनारे पर उगी हुई खुश्क झाड़ियों पर बेचारगी से मुंह मारती जाती है और हवा में सिर्फ़ धूल उडती रहती है। एक बगूला तेजी से चक्कर काटता पहाड़ियों की तरफ जा रहा था। "कोई चुड़ैल कहीं अपने सफ़र पर जा रही है।" राहेल ने बच्चों की तरह आंखें झपकाकर कहा और समन्दर के साहिल पर लड़कियां गा रही थीं—"यू आर माई सनशाइन, माई ओनली सनशाइन !"—यानी तुम मेरी सूरज की रोशनी हो ! धूप ! ! (जबकि खूबसूरत खुदपसंद लोग गॉगल्ज लगाकर चारों तरफ़ बड़ी शान से देखते हैं !) अरे, अम्न कहां खो गया ? लम्हों का यह सिलसिला ! "अब्बा मियां ! तुम कितनी दूर जा चुके हो कि अब वापस नहीं आ पाते ?" यह मेरा बाप है जो सब कुछ समझता और जानता है। जो इतना शरीफ़,

इतना अजीम है कि उसकी तरह का दूसरा इन्सान पैदा नहीं हो सकता। जिसने जिन्दगी अच्छी गुज़ारी और दूसरों को अच्छी जिन्दगी गुज़ारने में मदद की। जिसकी वजह से लोग खुश हुए। जिसने चुपके-चुपके दूसरों पर बड़े-बड़े एहसान किए, लेकिन कभी किसीपर ज़ाहिर न होने दिया कि उन अच्छाइयों का ज़िम्मेवार वह है और जिसने कभी ख्वाहिश और परवा न की कि उसके एहसानों के लिए शुक्रगुजार हुआ जाए।—मेरा बाप जिसके चांदी के तारों जैसे 'सिलवर-ग्रे' बाल थे और जो 'टेल कोट' पहनकर जहाज़ के अर्श (छत) पर छोटे-छोटे, जैसे सोच में डूबे हुए क़दम रखता हुआ टहलता था तो सारी कायनात मुत्मइन (खुशहाल) और मुस्कराती मालूम होती थी। जिसका वुजूद फ़रिश्तों की तरह मासूम था—और बहुत सारे फूलों के ज़माने, बर्फ़ानी जाड़े और खिलती बरसातें गुज़ारने के बाद एक बहार में वह चला गया, जबकि बाग़ में 'हौली होक्स' के फूल अपने जोबन पर थे।

वक्त के इस सहरा (मरुस्थल) की फिसलती हुई रेत पर मैं छोटे-छोटे कदम रखती यहां तक पहुंची हूं और मैंने पीछे मुड़कर देखा है। उस ज़िन्दगी में बहुत कम आंसू थे, बहुत सारी खुशियां। फूलों के मौसम। सरजू और रामगंगा की लहरों की रवानी और बर्फ़ानी दिसम्बर की नर्म और गर्म धूप, लेकिन ऐसा किस तरह है कि हम···अपने लिए जो छोटे-छोटे शीशे के घर बनाकर महफ़ूज़ हो बैठे हैं उनमें से निकलकर आगे नहीं देख पाते। फिर मौत आती है और सब कुछ खत्म हो जाता है।

बर्सों, सदियों के सफ़र के बाद वे इस जगह पर पहुंच चुके हैं, जहां मुझे भी जाना है। मैं यकीनन उनके पास वापस जाऊंगी। क्योंकि वे मुझसे बहुत खुश थे और अंत समय तक खुश रहे। छुट्टियों की सुबह को, अपनी आराम-कुर्सी पर लेटे, अखबार पढ़ते हुए वे अपने पसंदीदा शेर गुनगुनाते रहते—"हज़ारों साल नर्गिस अपनी बेनूरी पे रोती है···"और···"सुबहदम कोई अगर बालाए-बाम आया तो क्या···"और···"आज हैं खामोश वो दश्ते-जुनूं-परवर जहां, रक्स में लैला रही, लैला के दीवाने रहे! ···" और अखबार

पढ़ने-पढ़ने अपनी लाइब्रेरी में से वे पुकारते, "बेटा, यहां आओ और मुझे यह पढ़कर सुनाओ कि इस बार इलियट ने क्या लिखा है ?" एक बाप-बेटी की यह कैसी मुकम्मिल दुनिया थी।

अप्रैल की इस रात के लम्हो ! तुम यूं ही सरसराते हुए आगे निकल आओगे, लेकिन चारों ओर कैसे घटिया लोग हैं ! कैसे घटिया दिमाग हैं और कितनी घटिया बातें हैं ! ऊंचे दर्जे के इन्सान, ऊंचे दर्जे के दिमाग़, ऊंचे दर्जे के मेयार—ये सब कहां गए ? क्या हमें अपने आसपास के अनगिनत इन्सानों में से एक भी ऐसा नज़र आता है जिसे हम सही मानों में बढ़िया इन्सान कह सकें। आओ हम एक 'आयुवी का ब्रिज' तलाश करें और उसमें जा बैठें और तसवीरें बनाया करें। और कुछ न हो, यह दुनिया किसी और बात के काबिल नहीं। यहां की सड़कों पर सिर्फ नये मॉडल की लम्बी-लम्बी कारें मिलती हैं और विदेशी व्यापारी दलों के स्वागत के लिए हवाई अड्डों को जाया जाता है और 'एट-होम' होते हैं, और लोग 'सेम्बा' नाचते हैं। और ज्यादा 'ऐट-होम,' और ज्यादा प्रेस कानफ्रेंसें, और ज्यादा 'सेम्बा' और 'रम्बा'। इसके अलावा यहां पर और कुछ नहीं है। हमारे इस निजामे-हयात (जीवन-व्यवस्था) की यह गाड़ी इस तरह कब तक चलेगी ?

ज़िन्दगी की ये खौफनाक 'ट्रैजिक आइरनीज़'[1] ! तुम तो सिर्फ़ यही कहते हो मेरे भाई, जो यूनानी ड्रामे पढ़ते हो, लेकिन ज़िन्दगी यूनानी ड्रामे के इस ज्योमैट्री की तरह के 'पैटर्न' और इस फ़ारमूले से कहीं ज्यादा शदीद[2] है। यूनानी ट्रैजिडी ठंडी होती है, ज़िन्दगी की ट्रैजिडी नहीं। ज़िन्दगी मौत है, जो हर वक्त आती रहती है, और नहीं आती, और जब आ जाती है तो पता नहीं चलता कि अगर न आती तो क्या हर्ज था।

ज़िन्दगी का सबसे बड़ा गम, सबसे बड़ा सदमा मुझे पहुंच चुका है कि अब्बा मियां, तुम एक रोज ऐसे अचानक चले गए, और तुम्हें गए आज

१. दुःखांत विडंबनाएं
२. कठिन

छः साल गुजर गए, और इसी तरह गुजरते चले जा रहे है, और बहुत सारी दुनिया तुमको भूलती जा रही है—वे सारे लोग जिनको तुम पसंद थे, जो तुम्हें पसंद थे।

इस वक्त यहां पर कितनी खामोशी है। खामोशी और चैन। मुद्दतें गुज़री, एक रात घर की ठंडी सीढ़ियों पर बैठे-बैठे एकाएक मैंने महसूस किया था, खिड़की के शीशे पर झुकी अनार की कलियों से भरी एक टहनी सरसरा रही थी। उस समय मुझे अचानक ऐसा मालूम हुआ था जैसे आसपास की तमाम चीजें, दरवाज़ों के फ़ालसई पर्दे, स्याह अलमारियां, कोने में रखी हुई साइकल—ये सब इतनी अजनबी, इतनी बेकार है—सिर्फ़ यह टहनी जिन्दा है। सही है। अपनी है। मुझे सिर्फ़ यह टहनी चाहिए। सुर्ख़ कलियों से भरी यह टहनी।—दूर, सड़क के उस पार पेड़ों के झुरमुट मे छुपे उदास, परेशान, बेचैन-से मकान ऊंघ रहे है और चांदनी उनपर रेंग रही है और फिर उसी समय मैंने ऐसा महसूस किया था कि यह सब कुछ बहुत ही भेद-भरा है। भयानक है। इससे डर लगता है। अनार की इस टहनी से भी डर लगता है! कितने अनगिनत इन्सान मुझसे पहले पैदा हुए। हजारों बरस से एक नस्ल के बाद, दूसरी नस्ल की ज़िन्दगियों का यह सिलसिला कैसा लुढकता चला आ रहा है। मेरे इतने बेशुमार पुरखें भी कभी ज़िन्दा रहे होंगे। चलते-फिरते होंगे। सोते होंगे। बरसातों में खुश होते होंगे। अपने पुरखो की इस [illegible] बड़े भेद-भरे मालूम हुए।

जब हम जिन्दा होते हैं तो एक भयानक, अनजानी, अनदेखी ताक़त हमारे पीछे-पीछे हमारे आगे-आगे चलती रहती है और जब हम चलते-चलते थक जाते हैं तो हमें मौत के सायों की वादी तक पहुंचाकर वापस लौट आती है और दूसरी रूहों के पीछे उसी तरह चुपके-चुपके चलना शुरू कर देती है।

फिर हमें इन्सानों का एक गिरोह मिलता है, जो हमें पसंद आता है और हम सोचते हैं, 'या अल्लाह! ये इतने प्यारे लोग अब तक कहां छुपे

हुए थे ? इनके बगैर हमारी जिन्दगी कितनी अधूरी रहती !' लेकिन वक्त के धारे के साथ वह गिरोह हमसे बिछुड़ जाता है और कोई दूसरा गिरोह मिल जाता है। इसी तरह हम एक अदमवुजूद (अनस्तित्व) से दूसरे अदमवुजूद तक का फ़ासला तै करते रहते हैं। कितने ऐसे इन्सान होंगे जो हमसे कभी नहीं मिले और न कभी उनसे मिलना होगा। अगर कभी वो मिल जाते तो हम कितने खुश होते, लेकिन हम उन्हें जानते भी नहीं।

वह अनदेखी, अंधेरी रोशनी की ताकत मेरे सामने खड़ी है। उस खिड़की के पार, उस अनार की टहनी के नीचे, उस सड़क के मोड़ पर, लैम्प के पीछे के अंधेरे में, दरिया के साहिल पर। तुम कौन हो भई···मैं वह हूं, जो तुमसे कभी नहीं मिल सकती, लेकिन हमेशा तुम्हारे साथ रहूंगी···यह मुझे न जाने किस तरह की मौत की तरफ़ ले जाएगी !

एक दिन मैंने अपनी 'मदर सुपर्ब' से पूछा था, "होली मदर ! वह क्या वजह थी जिसने तुम्हें यह जिन्दगी गुजारने पर मजबूर किया ? वह कौन-सी कशिश (आकर्षण) थी, जो तुमने अपने आयरिश बागों को छोड़-कर इस गर्म मुल्क को अपनाया, और तुम क्यों दूसरे मज़हब की जिद्दी और गैर-दिलचस्प लड़कियों के साथ दिमाग खपाने में अपनी उम्र बिता रही हो ? क्या···क्या तुमने भी अनार की कलियों की कोई अकेली टहनी सरसराते देखी है ?"

फिर उस रात सीढियों पर से उठकर अपने कमरे मे जाकर लिबास तबदील करते हुए जब मैंने अलमारी खोली तो उसके सामने खड़े होकर बड़ी वेपरवाई से मैंने उसपर एक भेदती नजर डाली। मेरे सारे अल्ट्रा-फ़ैशने-बल फ़्राक और स्कर्ट जो मैंने नैनीताल में सिलवाए थे, और साड़ियों और दुपट्टों के अंबार और सैंडिलों की क़तारें और चूड़ियों के ढेर—क्या यही मेरी कायनात है। मैंने सोचा, यह मेरी कायनात है। यह मेरी हर हमउम्र लड़की की कायनात है। हर लड़की की तमन्नाएं इसी नुक़्ते पर आकर खत्म हो जाती हैं। मैंने अपनी चीजें उल्टी-पल्टीं। तस्वीरों के एलबम, स्कूल के

पुराने ड्रामों के ग्रुप, जीन हार्लो और डायना डर्बन की दस्तखतशुदा तस्वीरें, पुराने टिकट और चॉकलेट के रंगविरंगे डिब्बे। मैंने सोचा, मैं लड़कियों के इस तब्क़े (वर्ग) की कितनी सही और कितनी बेकार नुमाइंदा हूं। मुझे हंसी आ गई। "अरे, अगर शर्मदार हो तो डूब मरो चाय की प्याली में!" मैंने अपने-आपसे कहा। यानी बस यही आप हैं,—और ज्यादा साड़ियां, और ज्यादा सैंडिल—मेरी उड़ान यही पहुंचकर ख़त्म हो जाती है। अरे, हाय रे! मैं फिर वापस जाकर अपने कमरे के आगे बरामदे में बैठ गई, जिसकी सीढ़ियां पिछवाड़े बाग में उतरती थीं। जहां 'हौली होक्स' के पौदे थे। उस वक्त मैंने सोचा, हम जिन्दगी से बहुत कुछ हासिल कर सकते हैं। जिन्दगी को बहुत कुछ दे सकते हैं। क्यों नहीं हम ज्यादा खुश रह सकते, क्यों नहीं हम एक-दूसरे को समझ पाते! हम सब एक-दूसरे का ज्यादा ख्याल, ज्यादा क़द्र, ज्यादा एहतराम (आदर) क्यों नहीं करते? यहां सब बदगुमान हैं। सब लापरवाह है। अल्लाह! यह क़ैदखाना इतना लम्बा-चौड़ा है कि हम इसमें रहकर खुश होने पर भी मजबूर हैं। इन ख़ूबसूरत गैलरियों में मैंने इतने सारे आलिमों को शद्दो-मद (ज़ोर-शोर) से बहसें करते सुना। ब्रिटिश राज्य के नाइट, बर्लिन और वियना की युनिवर्सिटियों के डाक्टर, दूसरे मुल्कों के पॉलिएड ख़ुशपोश, और नर्म-नर्म बातें करने वाले सफ़ीर फ़ौजों के जांबाज़ कमांडर और ख़तरनाक उड़ानें करनेवाले दिलावर हवाबाज—इन गैलरियों में सबसे मुठभेड़ हुई। उनकी बातें मैंने सुनीं, मगर कुछ पल्ले न पड़ा। ये सब इतनी बहसें किसलिए करते हैं? ये सिर्फ़ सिगार का धुआं उड़ाने और एक-दूसरे की बीवियों के साथ नाचने और वोदका पीने तक ही बस क्यों नहीं करते? क्या तुमको ये लम्बी-चौड़ी फ़ुजूल बहसें करने से कुछ इत्मीनान हासिल होता है? क्या तुम अपने ज़मीर को यह यकीन दिला देते हो कि तुम वाकई इन्सानियत के लिए कुछ कर रहे हो? मैं इन सबको देखती हूं और इन्हें भूल जाती हूं; लेकिन मुझे सिर्फ लेडी 'सोखे' याद है जो एक फ़ानी (नश्वर) औरत होने पर भी देवताओं की तरह नाचती थी और

अमृत शेरगिल याद है, जिसने इस बेरंग दुनिया में थोड़े दिन जिंदा रह-कर रंगों की एक नई दुनिया को जन्म दिया था।

"अब्बा मियां, इन सब बातों का हल, इनका नतीजा क्या है?" उस रात मैंने अब्बा मियां से पूछा—जब मैं अपने कमरे के लैम्प बुझाकर और अलमारियों के दरवाज़े बंद करके उनकी बैठक में जाकर उनकी आराम-कुर्सी के क़रीब फर्श पर बिल्ली की तरह बैठ गई थी।

"हल...? कोई हल नहीं!"—उन्होंने राखदानी में सिगार रख दिया और आराम करने के लिए आंखें बंद कर लीं।

"हाय, अब्बा मियां!...क्या तुम इस वक्त कुनूती (निराशाप्रिय) बनने की कोशिश कर रहे हो? मालूम होता है, अब्बा मियां, तुम्हें इश्तमाली कद्रों (सामूहिक मूल्यों) से कोई दिलचस्पी नहीं?" मैंने बच्चों की तरह बिगड़कर कहा। फिर हम दोनों हंसने लगे।

"बहुत-से इन्सान, जो ऐसी परेशान करने वाली बातें करते हैं, इसकी वजह यह है कि वो बहुत खो चुके हैं, और अब उन्हें कुछ नहीं मिलता। जभी तो लोग अनार्किस्ट बन जाते हैं डार्लिंग!—राहेल एक दिन कह रही थी। अल्लाह! क्या तुम भी अनार्किस्ट हो?" मैंने डर से अपनी आंखें फैलाकर उससे पूछा था।

हां, अब्बा मियां, तुम कुनूती नहीं थे। तुमने एक बहादुर खिलाड़ी की तरह बहुत-से ग़मों को भी सहार लिया, और एक मासूम फ़रिश्ते की तरह एक दिलचस्प, आरामदेह और शानदार जिन्दगी गुजारी। तुम इन्सानियत और शराफ़त की बहुत ऊंची कद्रों (मूल्यों) के वारिस थे और तुम अपने पुरखों की परम्पराओं और ज़िन्दगी के इम्तिहानों में पूरे उतरे। तुम ऐसे अजीबो-ग़रीब इन्सान थे जिसका जिन्दगी-भर में कोई एक भी दुश्मन पैदा न हो सका। अगर कोई तुम्हारी जिन्दगी की कहानी लिखने बैठे तो उसे कितनी मायूसी और हैरानी के साथ कमजोरियों, बुरा-इयों और खामियों का बाब (परिच्छेद) खाली छोड़ देना पड़ेगा।

दुनिया में इतनी सारी दिलकश, प्यारी चीजें फैली हुई हैं लेकिन

उनका कुछ फायदा नहीं। दक्खिनी समुन्द्रों में टापू हैं, और खस की खुशबू, और 'यूजेन' और 'नील' के ड्रामे और 'बेथुबन' का संगीत और अच्छे इन्सान बर्सों के उलट-फेर के बाद पैदा होते हैं, लेकिन वो भी मर जाते हैं—यह कितनी ज़्यादती है।

"अब्बा मिया! दुनिया के कितने कम लोग अब तुम्हें याद करते होंगे। अकरा, इस्तंबुल और तेहरान में उसी तरह तुम्हारी दिलचस्पी की नई-नई किताबें छपती हैं। स्विट्ज़रलैंड और फ्रांस और आस्ट्रिया मे उसी तरह दिसम्बर की बर्फ जगमगाती है और जब अप्रैल का महीना आता है तो बागों में 'हौली होक्स' के डंठल उसी तरह फूलों के बोझ से झुक जाते हैं, जैसे उस रोज सुबह झुके हुए थे, जब लोग तुम्हें तुम्हारे कमरे से उठाकर बरसाती में लाए थे, और वहां से ऐशबाग की तरफ ले गए थे।

अप्रैल की इस रात के लम्हो! यूंही चुपचाप सरसराते हुए गुजरते रहो—तुम्हारी उड़ानें रोककर तुमसे ये बातें करने का भी कुछ फायदा नही!

आओ हम खामोश हो जाएं और इन लम्हों के भागने की आवाज सुनें और चुपके बैठकर आनेवाले जमानो का इन्तजार करें। अप्रैल के आस्मान पर अंधेरा गहरा हो गया है और हवा में बूंदें गरज रही है कि इसी तरह रात आती है।

## मुमताज़ शीरीं

जन्म : मैसूर। शिक्षा : मैसूर युनिवर्सिटी से बी० ए०, कराची युनिवर्सिटी से अंग्रेज़ी साहित्य में एम० ए०, और आक्सफ़ोर्ड युनिवर्सिटी से आधुनिक साहित्य-आलोचना में एक कोर्स और पोस्ट ग्रेजुएट रिसर्च।

यूरोप और दक्षिण-पूर्वी एशिया के विभिन्न देशों का भ्रमण किया। १९५८ से १९६१ तक तीन साल बैंकाक (थाईलैंड) में रही। १९५४ में हालैंड में एक अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य-सम्मेलन में भाग लिया। हालैंड और आक्सफ़ोर्ड के निवास-काल में कई प्रसिद्ध समकालीन पश्चिमी लेखकों और आलोचकों से मिलने

का अवसर मिला।

१६४८ में अपने पति डाक्टर समद शाहीन के साथ बंगलौर से 'नया दौर' नामक पत्रिका निकाली जो हमारे कराची आ जाने पर १६५२ तक जारी रही। 'नया दौर' के साथ ही साहित्यिक जीवन का प्रारंभ हुआ।

पुस्तकें: कहानियों के दो संग्रह—'अपनी नगरिया' और 'नीमे दरूं, नीमे बरूं'। आलोचनात्मक निबंधों का एक संग्रह 'मैयार'। सआदत हसन मण्टो पर एक पुस्तक 'नूरी न नारी'। अमरीकन कहानियों का एक चयन, और स्टेनबेक के उपन्यास 'दी पर्ल' का अनुवाद उर्दू में 'दुरे-शहसवार' के नाम से किया है। अंग्रेजी में 'एमिली ब्रौंटे' और 'पास्टरनाक' पर दो पुस्तिकाएं लिखी हैं। मेरी कुछ कहानियों के अनुवाद अंग्रेजी, फ्रेंच, डच, अरबी, हिन्दी, गुजराती और बंगाली में हो चुके हैं।

पता: ८ एफ़, गुप्ता मैन्शन, निकट प्लाज़ा, कराची (पाकिस्तान)

# आंधी में चिराग़

कोई दरवाज़ा खटखटा रहा था।

उसने धीरे से पूछा, "कौन ?" और अपने पति की आवाज सुनकर उसने चटखनी खोल दी और वह अन्दर आ गया। उसके दिल में इक हूक-सी उठी। कितना थका हुआ था वह। उसके पसीने में तर बालों के गुच्छे-से बन रहे थे। जितनी जल्दी उसके थके हुए बोझिल, भारी पांव और फूला हुआ पेट उसे ले जा सकते थे, वह अन्दर गई और घड़े में से पानी निकालकर ले आई। वह पानी डालती जा रही थी और वह हाथ-मुंह धो रहा था। पसीने में डूबे हुए गर्म चेहरे पर पानी की ठंडक उसे ऐसी भली लग रही थी कि वह चुल्लू में पानी भर-भरकर मुंह पर उछालने लगा। ठंडे पानी के छींटों से उसे बड़ी तस्कीन मिली और वह प्यार-भरी नजरों से अपनी बीवी की तरफ़ देखता हुआ चारपाई पर जा बैठा और वह उसे खाना देने के लिए तख्त बिछाने लगी।

"रहने दो नीला, मैं कुछ देर बाद खाऊंगा। आओ, यहां बैठो— कुछ देर।"

"नहीं, पहले खा लो, बाद में बातें होंगी!" उसने कुछ शर्माते हुए जवाब दिया।

वह तख्त पर बैठ गया। खाना परोसकर वह फिर रसोई में गई। अचानक उसके पेट के निचले हिस्से में तड़पा देने वाली एक टीस उठी। उसकी आंखों के आगे अंधेरा छा गया और वह पेट पकड़कर बैठ गई। बीच का दरवाजा खुला था। अनन्त ने उसे देख लिया। वह खाना छोड़-कर और जल्दी से हाथ धोकर रसोई की तरफ़ भागा, "क्या हुआ नीला? नीला क्या हुआ तुम्हें ?" वह उसपर झुक गया।

"नहीं तो, कुछ भी तो नहीं ! यूंही चक्कर-सा आ गया था। ऐसे दिनों में चक्कर आ ही जाया करते हैं—कोई बात नहीं।"

लेकिन अनन्त ने उसके चेहरे को देखकर जान लिया कि वह झूठ बोल रही है। उसकी तसल्ली के लिए वह कह रही है, "कोई बात नहीं, तुम जाकर खाना खाओ।"

'मुझे भूख नहीं है, नीला।" वह भी झूठ बोल रहा था।

नीला को फिर दर्द उठा। उसने अपने चेहरे को दोनों घुटनों में छुपा लिया ताकि अनन्त उसके चेहरे पर पीड़ा की लकीरें न देख ले। लेकिन अनन्त ने नीला को बड़ी नर्मी और एहतियात से बांहों पर उठाकर अन्दर चारपाई पर लिटा दिया और पास की खिड़की के पट बंद करके पुराना कम्बल ओढ़ा दिया। नीला ने फिर कहा, "अब मुझे आराम है, तुम जाओ, खाना खा लो।"

"मुझे भूख नहीं है नीला।" वह नीला का हाथ अपने हाथ में लेकर चारपाई पर बैठा रहा। वह अपनी बीवी को तके जा रहा था। परेशान, दुख-भरी नज़रों से नीला भी उसे देख रही थी। उसकी नज़रों में प्यार और पूजा थी।

उनके जिस्मों में कोई कशिश (आकर्षण) नहीं थी। अनन्त का सूखा मरियल जिस्म एक ढीली-ढाली कमीज और कुर्ते में छुपा हुआ था, और नीला का पेट हमेशा फूला रहता था। वह मोटी-मोटी मैलखोरे रंगों की साड़ियां पहने रहती थी ताकि चूल्हे के पास काम करने से जो कालिख और मैल जम जाती है, वह दिखाई न दे। कंघी-चोटी किए बगैर वह दिन-भर काम में लगी रहती थी। कुल मिलाकर वो दोनों खूबसूरत न थे। नौ-जवानी में जो थोड़ी-सी कशिश उनमें थी, वह भी ग़रीबी ने छीन ली थी। अनन्त का सांवला रंग स्याह हो गया था। उसके गाल अंदर धंस गए थे। नीला का रंग हल्दी की तरह पीला पड़ गया था और आंखों के गिर्द काले-काले घेरे उभर आए थे। उसकी उम्र सिर्फ सताइस साल की थी, लेकिन दिखाई अधेड़ देने लगी थी। न जाने वह क्या चीज थी जिसने इन दोनों

को एक-दूसरे के इतना करीब कर दिया था। यह कशिश जाहिरी खूबसूरती और जिस्मों की कशिश से कहीं ज्यादा गहरी थी।

मा-बाप और धर्म ने एक दिन इनका सम्बन्ध जोड़ दिया और दो एक-दूसरे के हो गए। नीला जानती थी; पति की सेवा और पूजा करनी चाहिए और वह उसकी सेवा-पूजा करने लगी। अनन्त जानता था कि एक कमज़ोर-सी चीज़ उसके हवाले की गई है; उसका फर्ज़ है कि उसकी हिफाज़त करे, उसका हर तरह ख्याल रखे, उसके लिए कमाए, उसे सहारा दे, और उसे चाहे। यह कमजोर-सी चीज, जो सारी जिन्दगी उसका साथ देगी, उसका घर संभालेगी, उसके बच्चों की मा होगी—और इस तरह उनके दिल मिल गए। वे एक-दूसरे को चाहने लगे और बरसों के साथ ने और उन नन्हे-नन्हे बच्चों ने उनके दिलों के इस मिलाप को और भी मज़बूत कर दिया था।

बच्चे, जो अब तक बाहर खेल रहे थे, नाचते-कूदते अन्दर आ गए। "मा, भूख लगी है—मा!" उसने उठना चाहा, लेकिन अनन्त ने उसे ज़बरदस्ती लिटा दिया, "नहीं, तुम सो जाओ, मैं इन सबको खाना दे दूगा।"

बच्चों को भूखी नजरों से खाने को तकते और बड़े-बड़े निवाले बनाकर खाते देखकर, और अनन्त को बेढंगेपन से परोसते देखकर उसे हंसी आ गई; लेकिन वह जोर से न हंस सकी; उसके पेट के निचले हिस्से में फिर अचानक वही दर्द उठ रहा था। उसने मुंह मोड़ लिया लेकिन अनंत ने उसकी आंखों की पीड़ा देख ली थी। वह बच्चों को छोड़कर उसके पास आ गया।

"नीला! क्या तकलीफ़ है तुम्हें?" उसने बेचैन होकर पूछा।

"ऐसा मालूम होता है कि मुझे···मुझे दर्द शुरू हो गए हैं!" उसने रुक-रुककर जवाब दिया।

"लेकिन तुमने तो मुझे बताया ही नहीं कि तुम्हें···"

"नहीं, अभी आठवां महीना ही तो है, जाने क्यों अभी से···।"

"मैं तुम्हें हस्पताल ले चलता हूं, नीला!" और वह अपना पुराना

कोट पहनकर तांगा लेने चला गया।

बच्चों ने भी मां को परेशान देखकर जल्दी-जल्दी खाना खा लिया और सब चारपाई को घेरकर खड़े हो गए—"तुम्हारा जी अच्छा नहीं मां ?" "दर्द तो नहीं हो मा ?" "बुखाल है ?" "मां दलद (दर्द) है ?" "कहां ? मैं चूम लूं तो अच्छा हो जाएगा ना ?" और सबसे छोटा बच्चा उसे चूमने लगा—उसके पेट को, उसके हाथों को, उसकी बांहों को, उसके पैरों को—और उसकी छाती में खुशी जाग उठी। कितना प्यार करते हैं उसे ये बच्चे ! उसने नन्हे को उठाकर खूब चूमा और पहलू में लिटा लिया। आखिर उसने जिन्दगी में क्या सुख पाया था ? गरीबी, दुःख, मुसीबतें—क्षण-भर चैन-आराम नसीब नहीं ! लेकिन बच्चों का यह प्यार, पति का प्यार—यही उसके जीवन की निधि थी।

तांगा आ गया था। अनन्त बच्चों को पुचकारकर पड़ोसिन के यहां छोड़ आया था—"देखो, मैं कल सुबह तुम्हें ले जाऊंगा, और तुम एक नन्हा-सा गुड्डा देखोगे—तुम्हारा नन्हा भाई, गुड्डे का सा !" उसने नीला को अपनी बांहों पर उठाना चाहा; लेकिन वह खुद तेजी से उठकर तांगे में जा बैठी। मैटर्निटी वार्ड ऊपर थे और सीढ़ियां बहुत ऊंचाई तक चली गई थीं। नीला के कदम डगमगा गए। "मेरा सहारा लो, नीला।" अनन्त ने कहा। फिर खुद ही उसे बाजू से थामकर आहिस्ता-आहिस्ता सीढ़ियां चढ़नी शुरू की। लेकिन चार-पांच सीढ़ियां चढ़ने के बाद फिर वही तड़पा देने वाली टीस उठी और उसने अपने चेहरे की हालत छुपाने के लिए अपना सिर अनन्त के कंधे पर डाल दिया।

वह लेबर वार्ड में पड़ी इन्तजार करती रही। अब दो-दो मिनट के बाद दर्द उठ रहा था। पेट में, रीढ़ की हड्डी के निचले हिस्से में, कूल्हों में और हर बार यह दर्द तेज, और तेज होता जा रहा था। उसकी आंखें फटी पड़ती थीं। वह अपने निचले होंठ को जोर से काट लेती—चीखों और कराहों को रोकने के लिए। वह नहीं चाहती थी कि अनन्त उसकी चीखों को सुने। वह जान लेगा कि उसे बेहद तकलीफ हो रही है,

और······

और अनन्त बंद दरवाजे के क़रीब खड़ा था। उसपर दीवानगी-सी छाई थी। वह बड़ी बेचैनी से इधर-उधर टहलने लगता। फिर बेंच पर आकर बैठ जाता और फटी-फटी आंखों से इधर-उधर घूरता। फिर कान लगाकर सुनने लगता—'अरे, अन्दर से तो कोई आवाज भी नहीं आ रही!······'

'लेबर वार्ड तो चीखों से गूंजता रहता है। कहीं···इतनी कमजोर थी वह! क्या इतनी कड़ी आजमाइश से बच निकलेगी?' और एक अजीब-से दुख-दर्द ने उसके दिल को जकड़ लिया। सिर झुकाकर उसने अपने दिल की गहराइयों से एक छोटी-सी दुआ मांगी। फिर उसने अपने-आपसे कहा, 'अगर नीला इस बार बच जाए तो वह फिर कभी उसे बच्चा न होने देगा।' उसने फिर दरवाजे से कान लगाकर सुना। कोई आवाज नहीं आ रही थी······लेकिन नीला योंही हमेशा सब्र से उस जिन्दगी और मौत की कशमकश से निकल जाया करती है। किसी बच्चे के वक्त भी उसने उसकी चीखें न सुनी थीं। यह सोचकर उसे कुछ तसल्ली हुई और वह बेंच पर जा बैठा और फिर वही इन्तजार नाकाबिले-बर्दाश्त इन्तजार। जैसे वक्त थम गया हो। इन चंद मिनटों के इन्तजार में जिन्दगी-भर की तकलीफ़ों का निचोड़ था, और उसकी बेचैन नजरें दरवाज़े की तरफ़ उठ-उठ जाती थीं—अब खुलेगा—अब खुलेगा—और अन्दर नीला बेहोश पड़ी थी। बच्चा बहुत छोटा था, इसलिए जल्दी पैदाइश हो गई थी। उसके कमजोर सीने में बस घड़ी भर के लिए जान थी। आंवल काटते ही वह हिचकी लेकर चुप हो गया। होश आने पर नीला ने बच्चे के बारे में पूछा भी नहीं। जैसे वह पहले से जानती थी कि वह मर चुका है। यह भी नहीं पूछा कि लड़का है या लड़की। नर्स ने आहिस्ता से बताया कि बच्चा मर चुका है और उसे तसल्ली दी, "आठ महीने के बच्चे कभी जिन्दा नहीं रहते। अब नहीं तो बाद में मर जाता।" नीला ने कोई जवाब नहीं दिया और जब नर्स ने बच्चे को उठाकर दिखाया तो उसने

नर्स ज़रा देर के लिए उसकी तरफ़ देखा—नन्हा-सा पीला चेहरा, और लकड़ी की तरह सूखा जिस्म—उसने आंखें फेर लीं। आंसू उसकी आंखों से निकलकर रबड़ की शीट पर ढलक गए और ममता की गर्म-गर्म धारा जो नये सिरे से उसकी छाती में उमड़ आई थी, ठंडी होकर जैसे जम गई।

दरवाज़ा खुला। नर्स बाहर आई। अनन्त उठकर खड़ा हुआ और पागलों की तरह नर्स को घूरने लगा। उससे कुछ पूछा भी नहीं जा रहा था कि नर्स ने बताया कि बच्चा मर चुका है। बच्चे का ख्याल उसे बिलकुल नहीं आया था। उसके दिल और दिमाग़ में यही ख्याल फड़फड़ा रहा था, 'काश! नीला बच गई हो!' और उसी पागलों के से अन्दाज़ में उसने नर्स से पूछा, "और मेरी बीवी?" नर्स ने शायद यह नहीं सुना। वह कह रही थी, "आठ महीने के बच्चे नहीं जीते। अब नहीं तो कभी न कभी मर ही जाता। उसकी इतनी फ़िक्र न करो!..." और वह सचमुच पागल हो गया। नर्स को झंझोड़कर चीखा, "और मेरी बीवी?" और जवाब का इन्तज़ार किए बग़ैर अन्दर घुसने लगा। नर्स ने उसे डांटा, "कहां जा रहे हो? तुम अभी अन्दर नहीं जा सकते। काफ़ी ले आओ, अपनी बीवी के लिए।"

"बीवी के लिए?" खुशी से उसकी चीख निकल गई। फिर उसे अपने इर्द-गिर्द का ख्याल आया। वह फौरन बाहर निकल आया और लपककर पास के होटल से काफी ले आया। नीला बिलकुल निढाल पड़ी थी। उसने काफी उसके मुंह में डालते हुए पूछा, "नीला! कैसी तबीयत है तुम्हारी?" "अच्छी हूं, सिर्फ कमज़ोरी है, जोड़-जोड़ में दर्द हो रहा है।"

दूसरी सुबह भी नीला उसी तरह निढाल पड़ी थी। उसके चेहरे पर हल्दी की छूट थी; जैसे उसके जिस्म से सारा खून चूस लिया गया हो। अनन्त ने उसपर झुककर उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया। कितना सर्द था वह हाथ! उसने आहिस्ता से पुकारा, "नीला!" नीला ने आंखें खोल दीं और बड़ी मुश्किल से सिर मोड़ा। उसी वक़्त नर्स और लेडी

डाक्टर वार्ड में आ गई। वह नीला का हाथ छोड़कर अलग जा खड़ा हुआ। नर्स ने नीला के अंगूठे में सूई चिभोकर खून निकाला। बहुत दबाने पर भी खून की एक नन्ही-सी बूंद निकली और उसने उस बूंद को कागज पर चिपकाकर लाल धारियोंवाले कागज़ के साथ लगाकर देखा। लेडी डाक्टर ने पूछा, "कितना 'हीमोग्लोबिन' ?"

नर्स का जवाब सुनकर लेडी डाक्टर के मुंह से चीख निकल गई। उसने अनन्त को बाहर बुलाया, "तुम जानते हो तुम्हारी बीवी की क्या हालत है? उसके जिस्म में बूंद-भर खून नहीं। जानते हो इसके खून में कितना हीमोग्लोबिन है? तुम मर्द खुदगर्ज, तुम क्या जानो बेचारी पर क्या गुजरी है! तुम्हें हमेशा अपनी पड़ी रहती है। शादी कर लेना, और फिर हर साल एक बच्चा दे देना, बस, यही मालूम है तुम लोगों को! कुछ अपनी बीवी का भी ख्याल किया? हमल के दिनों में इसे दूध और फल दिए होते! टॉनिक पिलाए होते! लिवर-ऐक्स्ट्रैक्ट के इन्जैक्शन दिलवाए होते। सत्तर-पचहत्तर फ़ीसदी हीमोग्लोबिन भी हो, तो भी औरतें टॉनिक पीती हैं। इन्जैक्शन लेती हैं। जच्चा—और खून में इतनी कम हीमोग्लोबिन!" और फिर उसने दांत पीसकर कहा, "और तुम लोग यह खूब जानते हो कि जब वह मौत के मुंह में पहुंच जाए तो उसे हस्पताल में लाकर पटक दिया जाए!" 'क्या वह नीला को नहीं चाहता? नीला का ख्याल नहीं रखता?' लेडी डाक्टर का हर बोल हथौड़े की चोट की तरह उसके दिल पर पड़ रहा था......फल और दूध और टॉनिक। अगर उसके बस में होता तो क्या वह इन चीजों का ढेर न लगा देता नीला के लिए? और अब नीला के जिस्म में बूंद बराबर खून नहीं। नीला मौत के मुंह में है... फिर लेडी डाक्टर की आवाज कुछ धीमी पड़ गई, "सुनो, इसे बहुत-से इन्जैक्शन देने पड़ेंगे, और हर इन्जैक्शन की क़ीमत ढाई से तीन रुपये है। क्या तुम अदा कर सकोगे उनकी क़ीमत?" इस समय उसका जी चाहा कि डाक्टर के पांव पकड़ ले और कहे, 'मैं किसी तरह अदा कर दूंगा। बस, तुम मेरी बीवी को बचा लो।'

और हस्पताल का बिल चुकाने के लिए उसने क़र्ज़ लिया। दफ़्तर को बस में जाना छोड़ दिया। सस्ते सिग्रेट जो वह पीता था, वो भी छोड़ दिए। उन चंद टकों से वह नीला के लिए फल ले जाता—संगतरे और सेब। लेकिन छोटे-से छोटा सेब भी चार आने में आता था···और नीला को दिन में तीन-चार बार इन्जैक्शन दिए जाते···

लेकिन वह वैसे ही निढाल पड़ी रही। उसके चेहरे का रंग सफ़ेद से सफ़ेदतर होता जा रहा था।

खून की कमी की वजह से उसके हाथ-पाव इतने ठंडे हो गए थे कि उनमे गर्मी बनाए रखने के लिए हमेशा चमड़े के दस्ताने चढ़ाए जाते और गर्म पानी की थैलिया उसके पांव के नीचे रखी जातीं और वह उसके पलंग के क़रीब खड़ा घंटों उसे तका करता और नीला की नज़रों की पीड़ा उसकी अपनी आंखों में उतर आती। लेकिन वह इस पीड़ा को नीला पर ज़ाहिर नहीं करना चाहता था। वह उसके सिर पर हाथ फेरकर कहता, "तुम ज़रूर अच्छी हो जाओगी नीला! और मैं तुम्हें कीमती टॉनिक ला दूंगा, और फल और दूध। सच नीला, मैं रुपये जमा कर रहा हूं!" नीला होंठों पर मुस्कराहट लिए उसे तक रही होती, लेकिन उसे अचानक मालूम हो जाता कि उसकी आखों में उम्मीद की चमक कभी की बुझ चुकी है। यह उदास मुस्कराहट सिर्फ़ उसकी तसल्ली के लिए है, और उसका दिल बैठ जाता। जब कभी वह बच्चों को वहां लाता और वो मां के पलग के गिर्द खड़े उसे हेरान नज़रों से देखा करते तो वह बच्चों को बड़े अजीब अन्दाज से तकती। जैसे उन्हे छोड़कर कहीं जा रही हो। और एक रात वह बुरी तरह कराहती रही। उसका बदन फोड़े की तरह दुःख रहा था। नसो मे दिए हुए उन बीसियों इन्जैक्शनों का दर्द कमज़ोरी की वजह से और भी बढ़ गया था। वह हाथ-पाव हिलाती तो दर्द के मारे बिलबिला उठती। और अनन्त ने नर्सों की मिन्नत की कि आज रात उसे वही सोने की इजाजत मिल जाए। वह वहीं कहीं कोने में पड़ा रहेगा। लेकिन उन्होंने उसे झिड़ककर निकाल दिया। रात के नौ बजे के बाद

कोई भी यहां नहीं रह सकता। लेकिन नीला ने देखा था कि बाजू के स्पेशल वार्ड वाली लड़की का पति रात के ग्यारह-साढ़े ग्यारह तक उसके पास बैठा रहता था और यही नर्स चुपके से बंद दरवाजा खोल देती थी और जब वह लड़की भी अपने पति को दूर तक पहुंचाकर खुशी से झूमती हुई वापस आती तो वो नर्स उसे अन्दर पहुंचाने के लिए दरवाजे के पास खड़ी रहती थी और हंस-हंसकर उसे छेड़ती थी, "बड़ी मुहब्बत है तुम दोनों में।"···

···गरीबों की मुहब्बत तो कोई नहीं पहचानता। पहचाने भी तो परवा नहीं करता। उसने एक आह भरकर करवट ली और दर्द से तड़पकर कराही। वह रात-भर कराहती रही, कोई उसके पास नहीं आया। कभी-कभी चिड़चिड़ाती हुई नर्स आकर उसे डांटती, "इतने जोर से क्यों कराहती है—दूसरे मरीजों की नींद खराब करती है!" और वह उसे नींद का इन्जेक्शन देकर चली जाती। उस रात उसे नींद के कई इन्जैक्शन दिए गए। लेकिन उसे नींद नहीं आई···

सुबह को वह बिलकुल खामोश थी। अब उसमें कराहने की भी ताकत नहीं थी। अनन्त आया तो उसे देखकर यह समझा कि अब उसे तकलीफ नहीं है, लेकिन शाम को लेडी-डाक्टर ने नीला का मुआयना करके मायूसी से सिर हिला दिया और अनन्त को बाहर बुलाकर कहा, "अब एक ही उम्मीद है।"

"वह क्या है!" वह पागलों की तरह चिल्लाया।

"इसके जिस्म में इन्सानी खून पहुंचाना चाहिए।"

"तो मेरा खून ले लीजिए।"

और उसके खून का मुआयना किया गया।

"खून तो ठीक है, लेकिन उसे बहुत-से खून की जरूरत है। क्या तुम इतना खून दे सकते हो?"

लेडी डाक्टर ने सोचा था कि यह सूखा-मरा-सा इन्सान! इसके जिस्म में भी क्या खून होगा! वह अपनी बीवी के लिए, जिसके बचने की

उम्मीद बहुत कम है, शायद खून न दे सके। लेकिन अनन्त ने उसे ऐसी नज़रों से देखा, जैसे कह रहा हो, 'तुम इतने खून की पूछ रहे हो ! मेरी बीवी को अगर मेरा खून बचा सकता है तो तुम मेरे जिस्म का सारा खून निचोड़ सकते हो !' गर्म-गर्म खून निकाला गया और अनन्त का यह खून जिसकी एक-एक बूंद में मुहब्बत की गर्मी थी, नीला के जिस्म में दाखिल कर दिया गया। उसकी रगों में हल्की-सी गर्मी दौड़ गई और उसके चेहरे पर रौनक-सी आ गई। अनन्त खुशी से पागल हो उठा। उसने नीला का हाथ, जो अब कुछ गर्म-सा था, अपने हाथ में लेकर कहा, "नीला, अब तुम बहुत जल्द अच्छी हो जाओगी ! डाक्टर ने कहा है, तुम्हारे जिस्म में खून पहुंचाया जाए तो तुम जल्दी अच्छी हो जाओगी !"

"खून ! लेकिन कौन देगा ? और मेरी तरफ़ से किसी दूसरे को···"

अनन्त ने एक निखरी हुई मुस्कराहट के साथ कहा, "तुम्हें पूरी तरह होश नहीं था। खून तुम्हारे जिस्म में पहुंचा दिया गया है !" "लेकिन, लेकिन···किसने···?" और फिर वह समझ गई, और उसने प्यार-भरी नजरों से, जिनमें अब चमक भी आ गई थी, अपने पति की तरफ़ देखा। फिर उन नजरों में शिकायत-सी उभरी और वह कहने लगी···लेकिन वह कुछ न कह सकी। उसके होंठ फड़फड़ाकर रह गए। उसकी हालत बिगड़ गई। चेहरा नीला पड़ता गया। अनन्त उसपर झुक गया "नीला ! नीला !" वह चिल्लाया। वह कुछ कह रही थी, लेकिन उसकी आवाज़ नहीं निकल रही थी। उसने कान करीब लाकर सुना, वह कह रही थी, "बच्चे, मेरे बच्चे—मैं उन्हें देखना चाहती हूं !" वह सरपट भागा और बच्चों को ले आया। नीला ने सब बच्चों पर बारी-बारी नजरें जमा-कर देखा। छोटे को उठाना चाहा लेकिन उठे हुए हाथ बेबसी से गिर गए। उसने बड़ी मुश्किल से कुछ देर अपनी नजरों को अनन्त के चेहरे पर जमाए रखा। होंठों पर फिर वही उदास मुस्कराहट उभरी और उसकी गर्दन ढलक गई। अनन्त पलंग की पट्टी पर सिर पटक-पटककर चिल्लाने लगा, "नीला ! नीला !" बच्चे हैरानी से मां को तक रहे थे। वह छोटे

बच्चों को समेट कर कुर्सी पर गिर पड़ा। बड़े बच्चे भी बाप की कुर्सी के पास खड़े फटी-फटी आंखों से देखते रहे। मौत का भेद उनकी समझ से बाहर था। नर्सें उसके हाथ-पांव सीधे करके उसपर सफ़ेद चादर डाल रही थीं। सफ़ेद चादर, और उतना ही सफेद चेहरा! काले, बिखरे हुए बाल। वह गुम-सुम बैठा उन्हें घूरता रहा। लेडी डाक्टर बोली, "तुम इसकी अर्थी का इन्तजाम करके कल सुबह इसे ले जा सकते हो। उस वक्त तक लाश नीचे एक कमरे में रखी जाएगी और बिल भी तुम कल चुका सकते हो। मुझे अफ़सोस है तुम्हारी बीवी···" लेकिन वह कुछ भी नहीं सुन रहा था, जैसे उसकी सब ताकतें ख़त्म हो गई हों। लेकिन फिर कुछ और तेज आवाजों ने उसे चौंका दिया। लाश ले जाने वाली नीच जात की औरतें स्ट्रेचर लिए आ रही थीं। "जब तक हमें पहले ही एक-एक रुपया न दिया जाए, हम नहीं ले जाएंगी!" और नर्सें आपस में बातें कर रही थीं, "हम खुद ले जा सकती थीं, लेकिन तोबा! इसका चेहरा कितना सफ़ेद है। मुझे तो डर लगता है!" वह नीला की यह तौहीन बर्दाश्त न कर सका। गुस्से से उठकर नीला की तरफ़ बढ़ा। नर्स ने जल्दी से स्ट्रेचर बढ़ाया, लेकिन उसने अपना होंठ काटकर कहा, "नहीं, इसकी ज़रूरत नहीं। मुझे सिर्फ़ वह नीचे वाला कमरा बता दो तो मेहरबानी होगी।"

और उसने अपनी बांहों पर नीला की लाश को उठा लिया और वह नीला को लिए उन्ही सीढियो पर से उतर रहा था जिनपर सात दिन पहले उसे सहारा देकर ऊपर पहुंचाया था। उस जिस्म को लिए जिसे मौत ने सख्त और भारी कर दिया था; उस जिस्म को, जो उसे सारी दुनिया से ज्यादा प्यारा था; जो कभी उसकी तमन्नाओं का मर्कज़ (केन्द्र) था; जिसने बारह साल तक उसका साथ दिया था और उसके क़रीब रहा था—और अब हमेशा के लिए उसकी आखों से ओझल हो जाएगा; उसकी ज़िन्दगी से अलग हो जाएगा। उस जिस्म को उसने कई बार इसी तरह अपनी बांहों पर उठाया था—जब नीला फूल की तरह हल्की

थी; जब वह नई-नई ब्याही आई थी, और अनन्त की मां उससे दिन-भर काम लेती थी, और जब वे मां की नज़रें बचाकर दूसरे कमरे मे मिलते तो वह उसे अपनी बांहों पर उठाकर घुमाता और पलंग पर डाल देता। और फिर जब वह बीमार और कमजोर रहा करती थी तो वह इसी तरह उसे उठाकर पलंग पर लिटाया करता था।

और अब वह आखिरी बार उस प्यारे जिस्म को अपनी बाहों पर उठाकर ले जा रहा था—नीचे, नीचे और नीचे...।

## रज़िया सज्जाद ज़हीर

अजमेर शरीफ़ में १५ फरवरी, १९१७ को मेरा जन्म हुआ। घराने में सख्त पर्दा होने के कारण बी० ए० तक घर में शिक्षा पाई। दिसम्बर, १९३८ में सज्जाद ज़हीर को मेरा जीवन-साथी बनाया गया। शादी के बाद मैंने इलाहाबाद विश्वविद्यालय से उर्दू में एम० ए० किया। १९४२ में बम्बई गई, क्योंकि सज्जाद ज़हीर को कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से 'क़ौमी जंग' का सम्पादक बनाया गया था। वहां हम पांच वर्ष तक रहे।

उसके बाद सज्जाद ज़हीर रूपोश होकर पाकिस्तान चले गए। पकड़े गए। जेल में रहे, और आजकल फिर भारत में है। मैं बम्बई के बाद से स्थायी रूप से लखनऊ में हूं।

पता : वज़ीर मंजिल, वज़ीर हसन रोड, लखनऊ

# वापस न आना

दुनिया मे बेशुमार रूहे हर रोज़ उतरती हे। सुनते है यहां आने से पहले हर रूह खुदा के सामने पेश होती है और उसे बताया जाता है कि उसे दुनिया में क्या बनकर उतरना है। तो वह एक फ़लसफ़ी (दार्शनिक) की रूह थी। बात-बात पर 'क्यों' और 'कैसे' कहने वाली रूह? और जब खुदा ने उसे बताया कि 'खुश हो, ऐ रूह, कि हम तुझे 'अशरफ़-अल-मख्लूकात'[1] बनाकर दुनिया में भेज रहे हैं,' तो उसने फ़ौरन एक सवाल कर दिया, "परवरदिगार! तूने मुझसे खूबसूरत चाद, सूरज और सितारे बनाए। मुझसे ज्यादा ताकत तूने पानी, बिजली और हवा को दी! मुझसे ज्यादा बड़े-बड़े जानवर तूने पैदा किए, फिर तू मुझे 'अशरफ़-अल-मख्लूकात' क्यों कहता है?" उसकी इस गुस्ताखी पर खफ़ा होने की बजाय खुदा मुस्करा दिया। फ़रिश्ते उसके साथ मुस्कराने लगे। कायनात (ब्रह्माण्ड) मे कहकहे की झंकार सुनाई देने लगी। चांद, सूरज, सितारे, हर चीज मुस्करा उठी—इंसान! इन्सान ही तो है!! कायनात की यह मुस्कराहट खत्म होते ही एक धुंद-सी छाने लगी। फलसफ़ी ने घबराकर इधर-उधर देखा और उस धुंदलके में से उसे एक आवाज़ गूंजती हुई सुनाई देने लगी, "हां, हमने तुझे 'अशरफ-अल-मख्लूकात' का खिताब दिया; इसलिए कि हमने तुझे दो ऐसी नेमतें बख्शी है जो और किसीको अता (प्रदान) नही की गई। एक तेरा एहसास (चेतना-अनुभव) है और एक तेरी जबान। और ऐ अपने खुदा की महबूब हस्ती, ऐ इंसान! सिर्फ़ तुझही मे यह ताकत है कि तू जो कुछ महसूस करेगा, वह तू कह सकेगा।"

१. सब जीवों में उच्च

फ़लसफ़ी ने गौर करने का इरादा ही किया था कि दो हाथों ने उसे दोनों तरफ़ से पकड़कर जमीन की तरफ़ धक्का दे दिया। आसमान की बुलंदियों से जमीन की पस्तियों का सफ़र बहुत ही सख्त था। फलसफी की रूह धीरे-धीरे जमीन की तरफ़ उतरने लगी। ज्यों-ज्यों वह जमीन के करीब आती गई, जमीन की खूबसूरती उजागर होती गई। वे नागिनों की तरह बल खाए हुए दरिया, मीलों तक फैले हुए हरे-भरे खेत, आसमान से बातें करते हुए पहाड़, फ़िजा में मंडलाते हुए हवाईजहाज, मिलों से निकलता हुआ पेचदार धुआं। ऊंची-ऊंची इमारतें, तेजरफ्तार रेलें, रेडियो से गूंजते हुए नगमे और उन सबके दर्मियान इन्सान की वह बस्ती। मर्द और औरतें, उनकी आपस की मुहब्बत के वे रस-भरे गीत, उनके रंगीन लिबास, खूबसूरत तस्वीरें, खूबसूरत शायरी, खूबसूरत कहानियां, नन्हे बच्चों का शोर, उनका किलकारियां मार-मारकर हंसना—यह दुनिया थी, हसीन दुनिया—इन्सान की सजाई हुई दुनिया !

यकायक फ़लसफी को ऐसा लगा कि उसकी रफ्तार बहुत तेज हो गई है। जमीन की कशिश बड़ी तेजी से उसे अपनी तरफ खेंच रही थी—और फिर यकायक उसके पांव जमीन पर टिक गए। मगर क्या ? जमीन तो नर्म थी। उसके पांव तले मखमल का कालीन बिछा था और चारों तरफ़ कुर्सियां ही कुर्सियां नजर आ रही थीं। सामने एक बड़ा खूबसूरत पंडाल लगा था—रंगबिरंगे बल्बों से सजा हुआ। स्टेज पर कुछ सोफे रखे थे, जिनपर बहुत-से लोग बैठे आपस में खुसर-पुसर कर रहे थे। बड़े फाटक से बहुत-से लोग अन्दर जा रहे थे। फ़लसफ़ी यह देखकर एक कुर्सी पर बैठने ही वाला था कि किसीने पीछे से उसका दामन पकड़ लिया, "वहां कहां बैठ रहे हैं आप ? वो सीटें रिजर्व हैं ?"

"क्या मतलब ?" फ़लसफ़ी कुछ नहीं समझा।

"ये उन लोगों के लिए है जिन्होंने मुशायरे के लिए सौ रुपये दिए हैं। वैसे दो-चार सीटें खाली हैं। आप सौ रुपया दे दें तो आपके लिए सीट रिजर्व हो सकती है।"

"मेरे पास रुपये कहां से आए ?" फ़लसफ़ी ने घबराकर कहा, "मैं तो सीधा ख़ुदा के यहां से आ रहा हूं। ख़ुदा की मलकीयत में सिक्के हैं ही नहीं, वरना मैं ज़रूर ले आता। मगर मुझे शायरी से बड़ी दिलचस्पी है। समझता भी हूं। अच्छे शेर की दाद भी दे सकता हूं—मेरी ज़ाती राय है कि…"

"हम यह सब बकवास नहीं सुनना चाहते ! आप पीछे जाकर बैठिए।" फ़लसफ़ी घिघियाकर पीछे जा बैठा। उसे आगेवाली कुर्सी के छिन जाने का बहुत अफ़सोस था। वहां से सब शायरों की सूरत बड़ी अच्छी तरह दिखाई दे सकती थी। इस गड़बड़ में स्टेज पर से एक शख़्स उठा और उसने माइक्रोफ़ोन के सामने जाकर किसी शायर का नाम लिया और आवाज़ सारे पण्डाल में गूंज उठी। और अब शायर अपने सुनने वालों के सामने खड़ा था। फ़लसफ़ी ने गर्दन ऊंची करके शायर को देखने की कोशिश की—क़द तो अच्छा लम्बा था, लेकिन जिस्म बहुत दुबला-पतला। सांवला रंग, जिसमें हल्की-सी सुर्ख़ी झलकती थी, जैसे तपा हुआ तांबा। तेज़ लेकिन घबराई हुई नज़रों से वह चारों तरफ देख रहा था, जैसे किसी तलाश में हो। फ़लसफ़ी को उसकी यह अदा बहुत ही अच्छी लगी।

और शायर ने अपना कलाम पढ़ना शुरू किया। जब वह इस शे'र पर पहुंचा :

ईं जनाब[1] आते रहे और आँ जनाब[2] आते रहे।
नस्ले-इन्सानी[3] मगर महरूमे-दर्मां[4] ही रही॥

"अपनी ज़बान बंद कीजिए ! मज़हब पर यह हमला हम बर्दाश्त नहीं कर सकते !" एक तरफ़ से बड़ा शोर उठा।

"मगर साहब, मैंने इसी तरह महसूस किया है !" शायर ने जवाब

---

१. यह-वह पैग़म्बर, अवतार
२. यह-वह पैग़म्बर, अवतार
३. मनुष्य-जाति
४. उपचार-रहित

दिया।

"आपने जो कुछ महसूस किया है, उसे अपने तक ही रखिए, कहिए मत !" उन लोगों का गुस्सा बढ़ता जा रहा था। इधर-उधर से भी कुछ लोग उनका साथ दे रहे थे।

और फलसफ़ी ने चौंककर पहलू बदला, "मगर परवरदिगार, तूने तो कहा था, 'हमने तुझे एहसास और जबान दी है। तू जो कुछ महसूस करेगा, उसे कह सकेगा और इसीलिए हमने तुझे 'अशरफ़-अल-मख्लूकात' का खिताब दिया है'—और यह क्या हो रहा है, ऐ खुदा !"

शायर फिर बोला, "मैंने सिर्फ यह कहने की कोशिश की है कि अगर्चे इन्सान की आजादी के लिए नबियों-पैगम्बरों ने भी बड़ी-बड़ी बगावतें की हैं, लेकिन अभी तक इन्सान को मुकम्मिल आजादी नसीब नहीं हो सकी···नबियों की अजमत से मुझे इनकार नहीं।"

"क्या कहा, नबियों ने बग़ावत की ! सुना किबला आपने ? कहता है, नबियों ने बगावत की ! ग़जब है मौलाना ! यानी कि नबियों को बाग़ी कहा ! वल्लाह कुफ्र है। लाहौल वला कुव्वत···!"

"साहब, आप बगावत का मतलब भी समझते है ?" शायर ने हंसकर कहा।

"हम मतलब-वतलब कुछ नहीं जानते, आप खामोश हो जाइए।"

"आप मतलब नहीं जानते तो यह मेरा क़सूर नहीं है। मैं अपनी जबान बंद नहीं करूंगा।" शायर तनकर खड़ा हो गया, "मेरी जबान को सच्ची बात कहने से कोई ताकत नहीं रोक सकती। मैं जिन्दगी का शायर हूं, और जब तक जिन्दगी संवर न जाएगी, मैं इसी तरह महसूस करूंगा और यूही कहूंगा।"

चारों तरफ से शोर उठने लगा।

"मारो, मारो !"

"दहरिया (नास्तिक) है !"

"कम्युनिस्ट मालूम होता है !"

"निकाल दो, निकाल दो !"

और फिर कुर्सियां एक-दूसरे पर गिरने लगीं । इन्सान एक-दूसरे से टकराने लगे । शायर का लिबास चीथड़ा-चीथड़ा हो गया और जब वह अपने कुछ क़द्रदानों के घेरे में घिरा, धक्के खाता मगर मुस्कराता हुआ फलसफ़ी के पास से गुजरा तो उसके लिबास का एक चीथड़ा फ़लसफ़ी के कदमों के पास आ गिरा। फलसफी ने उस चीथड़े को उठा लिया और फिर आप ही आप वह चीथड़ा उसकी आंखों से जा लगा और दो आंसू निकलकर उसमें जज्ब हो गए।...

...छोटे-से क़द का यह आदमी दूर से तो यूंही-सा लगता था मगर जब वह पास आकर बैठा तो फलसफ़ी को उसकी अहमीयत का एहसास हुआ। वह एक मशहूर और अपने पढ़ने वालों का बहुत ही महबूब (प्रिय) कहानीकार था। मगर ऐसी खामोशी से कुछ पढ़ने की दरख्वास्त को उस-ने कुबूल किया कि दोबारा किसीको कहने की जरूरत ही नहीं हुई। पहले शरमाई नजरों से उसने इधर-उधर देखा, फिर सिर झुकाकर कहानी पढ़नी शुरू कर दी। उसकी सादगी और खाकसारी फ़लसफी के दिल में घर कर गई। कहानी क्या थी, हकीकत की एक दास्तान थी ! आखिर में कहानीकार ने पढ़ा, "मैं आपसे यह नहीं कहता कि आप कम्युनिस्ट हो जाइए, मैं तो आपसे सिर्फ यह पूछना चाहता हूं कि आप महालक्ष्मी के पुल के इस तरफ हैं या उस तरफ़ ?" और उसने सिर उठाकर सवालिया नजरों से महफिल की तरफ़ देखा तो एक तरफ से आवाज आई, 'कहानीकार साहब, यह अदबी (साहित्यिक) महफ़िल है, सियासी (राजनीतिक) स्टेज नहीं, अदब को इन बातों से क्या तअल्लुक ?"

"मगर अदब को जिन्दगी से तो तअल्लुक है !" कहानीकार के भोले-भाले चेहरे की रगें तन गईं। उसकी आंखों में खून-सा उतर आया। होंठ कांपने लगे, लेकिन दूसरे लम्हे उसने अपने-आपको संभाल लिया और आहिस्ता से मगर बड़े जोश से कहने लगा, "मैं जिन्दगी का अदीब (साहित्य-

कार) हूं और जिन्दगी अब सियासत (राजनीति) से बच नहीं सकती। अगर मुझे महसूस होगा कि दुनिया में जुल्म और जब्र का राज है, सिक्कों के बदले इन्सान का खून और उसकी इज्जत बिकती है, तो मैं खामोश नहीं रहूंगा। अगर मुझे महसूस होगा कि···"

"साहब, आप चाहे जो कुछ महसूस करें, मगर यह खालिस अदबी महफ़िल है। अगर गुफ्तगू इल्मो-अदब तक ही रहे तो बेहतर है और इस बात से तो आप भी इनकार नहीं कर सकते कि अदब की कुछ दवामी कद्रें (स्थायी मूल्य) भी होती हैं।"

"दवामी कद्रें?" कहानीकार नफ़रत से मुस्कराया, "जिन्दगी की कौन-सी वह दवामी कद्र थी जो हिन्दोस्तान की आज़ादी के वक्त सलामत बच गई? सैंकड़ों मांओं ने अपने बच्चों को नेजों पर लटकते देखा! हज़ारों औरतों का हुस्न अगवा (बलात्कार) की भेंट चढ़ गया। भूख की शिद्दत से बंगाल का नग़मा उसके गले में फंसकर रह गया। पंजाब के खेत जल गए। कश्मीर के ज़ाफरान-ज़ारों में खून बहने लगा। अजंता की सरजमीन में गोलियां सनसनाई। कलकत्ता के पुर-रौनक़ बाज़ारों में टीयर-गैस फेंका गया और तुम दवामी कद्रों के राग अलाप रहे हो? यह अदब के साथ धोखा है। इंसानियत से ग़द्दारी है···मैं···" और जज़्बात की शिद्दत से उसके होंट रुक गए।

"साहब, आप हद से बढ़े जा रहे हैं! आप लोगों ने तो अदब को प्रोपेगंडा बना के रख दिया है। बहुत-से अदीब ऐसे भी हैं जो आपसे इत्तिफ़ाक़ नहीं करते, मगर आप उनके अदीब होने से इनकार नहीं कर सकते!"

"मगर हम उनके इन्सान होने से इनकार कर सकते हैं!" कहानीकार तन्ज़ (व्यंग) से हंसा, "और जब मुव्वरिख (इतिहासकार) लिखेगा कि ज़िन्दगी रो रही थी, और ये हंस रहे थे; ज़िन्दगी खून में लथड़ रही थी, और ये लफ़्ज़ों के बेल-बूटे बना रहे थे; इंसान मर रहा था, और ये मोहब्बत के गीत गा रहे थे; औरत का हुस्न अग़वा हो रहा था, उसकी

जवानी बाजारों में बिक रही थी, और ये उसके जिस्म की तारीफ़ कर रहे थे, तो आनेवाली नस्लें इनको अदीब कहना तो क्या, इनका नाम लेते भी शरमाएंगी !" और वह एक लम्हे के लिए रुका, "मगर सच्चे अदीब की जबान दुनिया की कोई ताक़त नहीं रोक सकती ! जब तक जिन्दगी संवर न जाएगी, जिन्दगी का अदीब इसी तरह सोचेगा, इसी तरह कहेगा !"

"खामोश हो जाइए···खामोश हो जाइए !"

"चले जाइए···चले जाइए !"····वगैरा आवाजें चारों तरफ़ से आने लगीं।

कहानीकार ने कहानी के पन्ने समेटे, इतमीनान से जूता पहना और दरवाज़े की तरफ़ बढ़ा। जब वह बाहर निकला तो फलसफ़ी ने देखा कि उसकी कहानी का आख़िरी पन्ना गिर गया है। उस पन्ने पर एक ही जुम्ला लिखा था, "मैं आपसे सिर्फ़ यह पूछना चाहता हूं कि आप महालक्ष्मी पुल के उस तरफ़ है या इस तरफ़ ?" फ़लसफ़ी ने वह पन्ना उठा लिया।

शहर की गहमा-गहमी के मुक़ाबिले में गांव की यह ख़ामोशी किसी कदर सुकून-बख्श तो जरूर थी मगर फ़लसफ़ी बहुत जल्द उससे उकता गया। ऐसा लगता था कि वह मीलों चल चुका था। मगर कहीं कच्ची, कहीं-कहीं रेतीली सड़कें, पत्थर, कंकर, रोड़े पैरों में अटकते हुए। बंजर-से मैदान, बीच-बीच में कहीं-कहीं हरियाली का कोई छोटा-सा टुकड़ा। मिट्टी में लोटते हुए नंग-धड़ंग बच्चे, दुबले-पतले ढोर। चलते-चलते सुट-पुटा होने को आ गया, लेकिन फ़लसफ़ी अभी तक यह तै न कर सका था कि सफ़र को रोक दे या जारी रखे—और वह चलता रहा—कि एकाएक उसे एक भीड़-सी दिखाई दी। बहुत-से लोग एक जगह इकट्ठे होते जा रहे थे। काफ़ी शोर भी हो रहा था। फ़लसफ़ी एक बूढ़े की बग़ल के नीचे से घुसकर अन्दर पहुंचा। कुछ लठबंद एक बुढ़िया को घसीट रहे थे, "बता, फिर देगी जमींदार साहब को गाली, फिर देगी ?"

बुढ़िया घिसट रही थी। उसके कपड़े जगह-जगह से फट गए थे, जमीन की रगड़ से जिस्म का एक हिस्सा छिल गया था और वहां से खून निकल रहा था। चार-पांच लठबंद आसपास खड़े थे।

"मैंने उसे गाली कब दी ? मैने तो यह कहा था कि वह बेईमान है, और बेईमान तो वह है ही !—उसने झूठे कागज पर मेरे आदमी का अंगूठा लगवा लिया ! मेरे बेटे को लाम पर भिजवाया और आज जो मैं उसके यहा दूध देने गई तो बेईमान मुझसे कहने लगा, कि तू थक जाती होगी, अपनी बेटी को दूध देकर भेज दिया कर।"

लठबंदो में से एक ने बुढ़िया के बाल पकड़ लिए, "माई-बाप ने तो तेरे ही भले के लिए कहा था, और तू उनको बेईमान कहती है ! तेरी ज़बान काट लेंगे हम !"

"मैं उसकी सब मक्कारी जानती हूं !" बुढ़िया तकलीफ़ से दुहरी हो गई थी, "ज़बान तो मुझे भगवान ने दी है, तुम क्या काटोगे ! और मेरी जबान काट लोगे तो हज़ारों और भी जबानें हैं, कहां तक काटोगे ! जिसका दिल जलेगा वह कहेगा ! यूंही कहेगा। तुम मुझे सच्ची बात कहने से नही रोक सकते।"

"अच्छा, अच्छा, चल ज़रा जमींदार साहब के यहां, वहां चलकर कहना ! तेरी ज़बान पर अंगारा न रख दें तो !"

बुढ़िया घिसटती चली गई और फलसफ़ी के सामने सिर्फ़ सफ़ेद बालों की एक लट पड़ी रह गई, जिसकी जड़ में खून लगा था। उसके सीने से एक गहरी आह निकली, "ऐ खुदाया ! क्या तूने इसीलिए इन्सान को एहसास और ज़बान दी है ? क्या इसी बिना पर तूने उसे 'अशरफ़-अल-मख्लूक़ात' बनाया है ?" और उसने उस लट को ज़मीन पर से उठा लिया।

इमारत बहुत बड़ी और काफ़ी खूबसूरत थी। बाहर बड़े-बड़े हरफ़ों में लिखा था, 'दफ़्तर अखबार 'काम' हफ़्तावार'। इमारत के अन्दर ही छापाखाना भी था। मशीनें अख़बारों के गड्डे के गड्डे उगलती चली जा रही थीं। मीलों लम्बा काग़ज छपता चला जा रहा था। आसपास के

कमरों से बीसियों टाइपराइटरों की आवाज़ एकसाथ आती चली जा रही थी। इमारत में चारों तरफ़ बीसियों आदमी इस तरह चल-फिर रहे थे जैसे गुड़ की डली पर च्यूटियां रेंग रही हों। फलसफ़ी यह देखकर बहुत मरऊब (प्रभावित) हुआ और उसने अपने दिल मे सोचा कि काश परवरदिगार, मुझे फ़लसफ़ी के बजाय एडीटर बनाकर भेजता तो फिर तो...

और वह यहीं तक सोच पाया था कि लाल पगड़ियां पहने दो आदमी खड़ाम-खड़ाम अपने भारी बूट बजाते बड़े ठाठ से चमड़े के हंटर लगाए बड़े फाटक से अन्दर आ गए। आते ही उन्होंने बड़ी रोबदार आवाज मे फलसफी से पूछा, "एडीटर साहब कहां हैं?"

फलसफ़ी डर के मारे एक कदम पीछे हटा और दीवार का सहारा लेकर जल्दी मे बोला, "मुझे मालूम नहीं, अंदर होंगे।"

"अच्छा!" और वो दोनों अन्दर की तरफ बढ़े। इतने में एक चपरासी भागता हुआ आया।

"एडीटर साहब अन्दर तशरीफ रखते हैं, इधर से आइए।"

"मालूम है रास्ता!" उन लाल पगड़ीवालों में से एक ने कहा और फिर वो घिनौनी-सी हंसी हंसकर पीले-पीले गंदे दांत दिखाने लगे, "हम पहले भी यहां आ चुके है।"

फ़लसफ़ी ने देखा कि उन दोनों के आने से पूरे अमले में बेचैनी की एक अजीब-सी लहर दौड़ गई है। लोग गर्दनें मोड़-मोड़कर उन्हें देखने लगे। कुर्सियां खिसकने लगी। टाइपराइटर रुक गए। कुछ लोग दांत पीसने लगे। कुछ मुह ही मुंह में बड़बड़ाने लगे। कुछ आहें भरने लगे और जब वो दोनों एडीटर के कमरे में दाखिल हुए तो एक नौजवान क्लर्क ने उन्हें पीछे से मुक्का दिखाया। फ़लसफ़ी उन लोगों के पीछे जाकर दरवाजे की आड़ में खड़ा हो गया और दराज से एडीटर के कमरे में झांकने लगा। एक बड़ी-सी मेज के सामने एक खूबसूरत-सा आदमी बैठा था—आंखों पर चश्मा लगाए। गोरा रंग, लम्बी नाक, चौड़ा माथा और घने घुघराले

बाल'' पूरी मेज़ किताबों और कागजों से भरी हुई थी—तो यही था एडीटर ! वो दोनों आदमी जाकर उसके सामने खड़े हो गए। एक लम्हे के लिए उसने सिर उठाया और मुस्कराकर उनके घिनौने चेहरों को देखा। उसकी मुस्कराहट मे गजब की खुदएतमादी (आत्मविश्वास) थी।

"हू, तो आ गए आप लोग ?" और उसने फिर सिर झुकाकर लिखना शुरू कर दिया। दोनों घबरा-से गए। ऐसा लगता था कि इस एडीटर के सामने उनका सारा रोब खाक मे मिल गया था, हालांकि उनके पास चमड़े के दो बड़े-बड़े हटंर थे और एडीटर के हाथ मे सिर्फ़ एक क़लम। उन्होंने जल्दी से अखबार की एक कतरन उसके सामने रख दी।

"तो फिर ?" एडीटर ने कलम रोककर पूछा।

"आपके नाम वारंट है। आपको हमारे साथ डिप्टी-कमिशनर के यहां चलना होगा और आपके दफ्तर की भी तलाशी ली जाएगी।" और उन्होंने वारट जेब से निकाला।

"तो यह कौन-सी नई बात है, चलिए, मैं तो इससे पहले भी आपका मेहमान रह चुका हूं।" और वह खड़ा हो गया। फ़लसफ़ी ने देखा कि उसका क़द बहुत लम्बा था और जब उसने क़लम रखा तो फ़लसफ़ी ने यह भी देखा कि उसकी उंगलियां बहुत ही खूबसूरत थी। वह दिल ही दिल में उसकी शानदार शख्सीयत और उसकी मुस्तक़िल-मिजाजी को सराह ही रहा था कि एडीटर और वो दोनों सिपाही दूसरे दरवाजे से बाहर निकल गए।

फ़लसफ़ी फुर्ती से अपनी जगह से निकला। इधर-उधर देखा। मेज़ पर रखी हुई कतरन को उठाया और जल्दी-जल्दी पढ़ने लगा। शुरू का हिस्सा तो उसकी समझ में न आया लेकिन बीच में लिखा था, "आप इसी वाक़या को लीजिए। जो कुछ अकबराबाद में २० अकतूबर को हुआ, अखबारों ने इसके बारे में जो कुछ लिखा है, वह सही नहीं है। वाक़यात को तोड़-मरोड़कर बयान किया गया है। यह सही है कि कुछ किसानों ने पुलिस वालों को मारा और उनसे हथियार भी छीन लिए लेकिन इसका कुछ जिक्र

नहीं कि पुलिस वहां क्यों गई थी। वारदात से पहले पुलिस वालों ने क्या किया था और कैसे यह नौबत पहुंची। हम महसूस करते है कि इस तरह से खबरों को घुमा-फिराकर जनता के सामने सूरते-हाल (वस्तुस्थिति) का ग़लत नक्शा पेश करना अखबारनवीसी को ज़लील करना है और हम हमेशा इस धोखेबाजी का पर्दा चाक करते रहेंगे। सचाई का हमसे यही तकाजा है और हमारी ज़बान को सच्ची बात कहने से दुनिया की कोई ताक़त नहीं रोक सकती। असल वाकया यूं था कि…"

फलसफी ने यहीं तक पढ़ा था कि बाहर से कुछ शोर-सा सुनाई दिया और उसने खिड़की से झांककर देखा। दफ्तर के अहाते में एक लम्बी-सी काले रंग की लारी आकर रुकी जिसमें चारों तरफ़ लोहे की जाली लगी थी। बहुत-से लाल पगड़ीवाले उस लारी से उतरे और कनखजूरों की तरह सारे दफ्तर में रेंगने लगे। जब लारी खाली हो गई तो एडीटर और वो दोनों आदमी दफ्तर की तरफ से आए और उसमें बैठ गए। दोनों तरफ़ वो घिनौने चेहरों वाले थे और बीच में एडीटर। लारी ने जोर की आवाज़ की। दो-एक हिचकोले लिए और रवाना हो गई। फ़लसफी ने अख़बार की कतरन जेब में रख ली और खिड़की से कूदकर भागा। लाल पगड़ीवाले दफ्तर को बेतहाशा खंगाल रहे थे।

"परवरदिगारे-आलम!" एक फ़रिश्ता उड़ता हुआ आया, "वह फ़लसफ़ी वापस आ गया है।"

"है? क्यों?" उसको तो काफ़ी मुद्दत तक दुनिया में रहना चाहिए था। मल्कुल-मौत (धर्मराज) को इतनी हिम्मत कैसे हुई कि वह उसे वक़्त से पहले यहां ले आया?"

"मल्कुल-मौत का इसमें कोई कुसूर नहीं खुदावंद! उसने खुद ही मल्कुल-मौत को मजबूर किया। उसने दरिया में कूदकर खुदकुशी कर ली थी।"

"अच्छा तो है कहां वह?"

'जैतून की झाड़ियों के पास अंजीर का जो पेड़ है ना, वह उसके नीचे

बैठा है। हम लोगों ने कितना कहा कि इतना बड़ा सफ़र करके आया है, ज़रा-सा शहद चाट ले या दूध ही पी ले मगर वो तो जब से आया है, बराबर रोए जा रहा है। हम लोगों के समझाने का कोई असर नहीं होता।"

"हूं ! हमारे सामने हाज़िर किया जाए।"

फ़रिश्ते उड़ते हुए गए और थोड़ी देर बाद फ़लसफ़ी खुदा के सामने हाजिर था। उसकी आंखों से आंसू बह रहे थे। हिचकियों से उसका सारा जिस्म कांप रहा था। एक छोटी-सी पोटली को उसने दोनों हाथों से पकड़कर अपनी छाती से लगा रखा था।

"ऐ 'अशरफ़-अल-मख्लूकात' ! तेरी आंखों में आंसू क्यों ?"

खुदा के ये बोल सुनकर फलसफी फूट बहा : "खुदाया ! मुझे 'अशरफ़-अल-मख्लूकात' न कह ! मुझसे मेरा एहसास छीन ले, परवरदिगार, मुझसे मेरी ज़बान वापस ले ले—मैं 'अशरफ़-अल-मख्लूकात' नहीं बनना चाहता !"

फरिश्ते दम साधे खड़े थे। इंसान फ़र्याद कर रहा था :

"देख खुदावंद, यह देख ! अपनी दुनिया के नमूने !" और फ़लसफ़ी ने पोटली खोल दी। शायर के तार-तार लिबास का वह चीथड़ा। कहानी का वह आखिरी पन्ना। सफ़ेद बालों की लट, जिसकी जड़ में खून लगा था। अखबार की वह कतरन जिसमें सच्चाई बड़ी बहादुरी से पेश की गई थी। एक लम्हा खामोशी रही।

"मगर इन इन्सानों ने आखिर में क्या कहा था ?" खुदा ने पूछा।

"आखिर में ?" फलसफ़ी ने गर्दन झुकाकर ज़रा सोचा, "आखिर में ?" और उसने अपना सिर खुजाया। "आखिर में तो उन सभी ने एक ही बात कही थी परवरदिगार ! हमारी ज़बान को सच्ची बात कहने से दुनिया की कोई ताक़त रोक नहीं सकती ! जब तक दुनिया संवर न जाएगी हम यूं ही महसूस करेंगे और कहेंगे !" और फिर वह चौंक पड़ा। जैसे उसे कोई भूली हुई बात याद आ गई हो। जैसे उसे अपनी किसी बहुत बड़ी ग़लती का एहसास हो गया हो। उसने सिर उठाया। उसके चेहरे पर

मुस्कराहट थी।

और धुंधलके में से उसे एक आवाज़ सुनाई देने लगी, "ऐ इंसान! दुनिया को वापस लौट जा। हमारे पास आने की तुझे क्यों जरूरत हुई? क्या ये चीज़ें तेरे लिए काफ़ी नहीं थीं? हमने तुझे एहसास दिया है, सच्चाई को महसूस करने लिए। हमने तुझे ज़बान दी है, सच्ची बात कहने के लिए। ऐ कायनात की ज़ीनत[1]! इन निशानियों को ले जा, कि ये तुझे सच्चाई पर क़ायम रहने का रास्ता दिखाएंगी; और ऐ 'अशरफ़-अल-मख़्लूक़ात'! अब जब तक दुनिया को सवार न लेना, हमारे पास वापस न आना।"

---

१. सृष्टि की शोभा

हिन्दी, बंगला, मराठी और अंग्रेज़ी में बहुत-सी कहानियां अनूदित हो चुकी हैं।

'रोशनी के मीनार' को पाकिस्तान में १९५८ की सर्वोत्तम पुस्तक का पुरस्कार मिला।

१९६० में आंध्रप्रदेश सरकार ने साहित्यिक सेवाओं पर पुरस्कार दिया।

१८ अक्तूबर, १९५९ को डाक्टर अनवर मुअज्ज़म एम० ए०, पी-एच० डी० के साथ शादी हुई।

पता : १०८। ए, मुअज्ज़मपुरा, हैदराबाद (आंध्रप्रदेश)

# सती सावित्री

मैं लाख सोचती हू कि लडकिया आवारा कैसे हो जाती हैं। क्या उनके पास वह बन्द कली नहीं होती जिसके अन्दर औरत का दिल धड़कता है ?

अल्लाह कसम मैं तो उन आवारा लड़कियों को अलिफ़लैला की परियां समझती थी। किसी ग़ैर मर्द की तरफ देखना, उसे मुहब्बत-भरे ख़त लिखना, फिर—और फिर—अल्लाह तौबाह—कानों सुनी नही, आंखों देखी कहती हूं।

अभी मैं छठी क्लास में थी जब दीनियात (धर्मशिक्षा) पढ़ाने वाली आमिना आपा दोज़ख का हाल सुनाती थी तो मुझसे ज्यादा रोने वाली लड़की क्लास में कोई न थी। बकौल बाजी के बारह बरस की ढडू बात-बात पर आंसू क्यों बहाती थी ! मगर अपने दिल को क्या करूं। इस नामुराद दिल ने मुझे कैसे कुएं झंकवाए है। कैसी मैने अपनी मिट्टी पलीत की, तौबाह-तौबाह !

हां, तो मैं क्या कह रही थी ? जब मैं सातवी क्लास में थी, तब ही मैंने अलिफ़लैला की वह परी देखी थी। शीला मैट्रिक में पढ़ती थी, और जनाब मैट्रिक वाली लड़कियां तो छोटी क्लास वालियों के लिए परियों से बढ़कर पुरइसरार होती हैं। मगर शीला सचमुच परी थी। मेरी आंखें फूटें, जो मैंने फिर कभी शीला से खूबसूरत लड़की देखी हो, पर राना कहती थी कि शीला तो तेरी पैरों की धूल भी नही है सज्जो। और सिराज कहता था, अल्लाह मियां ने तुम्हारी आंखें बनाने से पहले जाने कितनी लाख बार 'स्केच' बनाए होंगे, मगर, नवाज—नवाज—वह बड़ा बेशर्म था। उसकी नज़र तो हमेशा मेरे—मेरे—उंह, छोड़िए भी मेरी बात। अब इस वक़्त मैं आपको अपने हुस्न की कहानी नहीं सुनाने बैठी

है। मुझे तो उन लड़कियों पर हैरत हो रही है जो अच्छी-खासी पढ़ी-लिखी, सूरत-शक्ल की हैं, मगर करम देखो तो ऐसे ! अब शीला ही को ले लो। हमेशा स्कूल में अव्वल आती थी। स्कूल का जलसा होता तो दस-दस इनाम उसे मिलते। नाच में वह अव्वल, नाटक में वह अव्वल, रस्सी फादने में वह अव्वल, दौड़ में···और एक दिन मालूम हुआ कि वह कितनी तेज दौड़ रही थी, जब उसके हाथ में एक गुलाबी लिफ़ाफ़ा देखकर श्रीमती शराफ ने भरी क्लास में उसे रोक दिया। तौबाह-तौबाह ! कैसी भद्द हुई है उस बेचारी की, जब उन्होंने 'टीचर्स-रूम' में वह खत जोर-जोर से सुनाया। हम सब खिड़कियों में से लटक-लटककर सुन रहे थे। और टीचरों के डांटने पर खूब हंस रहे थे। उस जमाने में आजकल की तरह हंसी का काल थोड़े ही था। हम सब हर वक्त जाने किन-किन बातों पर हंसा करते थे। कुछ नहीं तो आमिना आपा की चुहिया की दुम जैसी चुटिया देखकर लोटन कबूतर बने जाते या फिर 'हेडमिस्ट्रेस' के मटक-मटककर चलने पर हंसी आती।

दूसरे दिन हम स्कूल पहुंचे तो शीला गायब थी, और हमारी टांग बराबर वालियां भी मुंह भर-भरकर कहती फिर रही थीं कि शीला पर वह सादिक़ आपा का भाई महमूद मरता है। जी हां, लड़कियां इस मामले में लड़कों की तरह बुद्धू नहीं होतीं। अरे वह तो गुडिया खेलने में ही समझ जाती हैं कि फ़लां गुड्डा फ़लां गुड़िया पर किस बुरी तरह से मरता है। मगर हाय, यह शीला कैसी खुशनसीब निकली कि वह मोटरसाइकल वाला महमूद इसपर मर मिटा। एक हमारी रन्नू फूफी थीं, खुदा झूठ न बुलवाए, तो चार-पांच रिश्ते-नातों के भाइयों पर मरने का 'आफ़र' दे चुकी थीं। यों तो दादी मुहब्बत की खुशबू कुत्ते की तरह मीलों दूर से सूंघकर भौंकना शुरू कर देती थीं और अम्मा जो उन लड़कियों को 'टाइम-बम' से कम न समझती थीं कि वक़्त आने पर हर चीज़ को तहस-नहस कर डालती हैं। पर रन्नू फूफी के कारनामों पर सब अनजान बन जाते क्योंकि वह उम्र में इन छोटी खाला से बड़ी थीं जिनकी राहत मेरी

क्लास कीही थी। ख़ैर, बक़ौल अम्मा के रशू फूफी को काली कह लो, बदसूरत कह लो, मगर हमारे ख़ानदान में तो जाने क्यों दुल्हावाले आना ही न चाहते थे। नसीम ख़ाला थीं तो ब्याह का इंतज़ार करते-करते उन्होंने मैट्रिक किया, एफ० ए० किया, बी० ए० किया और एम ए० में पहुंच गई। नानी ने दहेज़ के लिए जो जोड़े तैयार किए थे, उनका फ़ैशन खतम हो गया। गोटा-किनारी मन्द पड़ गई। जब भी अम्मा और नानी मुहल्ले-टोले के किसी ब्याह का हसरत-भरा जिक्र करती थी तो नसीमख़ाला फ़ौरन अपने कालेज के पचासों किस्से सुना डालती कि फ़लां लड़की ने कैसे पढ़े-लिखे लड़के को पसंद किया, पलक झपकते में ब्याह हो गया। शुरू मे ये किस्से सुनकर नानी भड़क उठती मगर फिर उन्होंने नसीम ख़ाला को थोड़ी-सी ढील भी दी, लेकिन उसके बावजूद अब वह ज़माना आ गया था जब सारे कालेज में वह 'आपाजान' पुकारी जाती।

हां, तो मैं क्या कह रही थी कि स्कूल में सब लड़कियों का ख़याल था कि वह मोटरसाइकलवाला लड़का यक़ीनन शीला की कजरारी आंखों पर मर मिटा होगा। उसी दिन मुझे अचानक खयाल आया था कि मेरी आंखों की चमक राना को कितनी पसंद थी।

"मुझे तो बड़ा डर लगता है सज्जो! कहीं तेरी आंखों के सोने पर लुटेरे न टूट पड़ें!" वह अकसर मुझे सताती थी।

उन्हीं दिनों मुझे अपने बहुत कीमती होने का ऐहसास हुआ था। उफ़-ओ, मुझे कितना डर लगता था! हर आदमी पर डाकू का शुबहा होता। रात को बार-बार उठकर देखती कि कोई चोर मेरे सिरहाने न खड़ा हो। कमबख्त मेरी आंखो की दमक तो बढ़ती ही जा रही थी। मैं स्कूल जाती तो रास्ता चलनेवाले पलट-पलटकर देखते। स्कूल की टीचरें आती-जातीं मेरे गाल थपथपा जातीं और मेरा बदन जलने लगता।

मगर भाई, आप जो इस कहानी को कहानी समझकर पढ़ रहे हैं, अल्लाह जाने किस ग़लतफ़हमी में मुबतला हो जाएंगे कि मैंने अपनी चांद-सी सूरत से जाने क्या-क्या फ़ायदे उठाए—ख़ाक!

अरे, मैं भी कोई मीना थी कि महमूद के साथ रातों-रात उड़ गई। मैं तो बचपन से एक बहुत ही आदर्श शहज़ादे के ख्वाब देखा करती थी। यह जमीन पर बसने वाले जलील कीड़े, ख्वाहिशों के मारे हुए रोमान-जदा नौजवान, मेरी नजर में क्या खाक आते ? कहते हैं अगले वक़्तों में जब कोई मेरी तरह अक़्ल में बेमिसाल, सूरत में लासानी शहज़ादी पैदा होती थी तो अल्ला मियां उसके लिए किसी दूर-दराज मुल्क में एक चांद-सा शहज़ादा भी भेज देते थे। फिर वह खूबसूरत शहज़ादा सात नामुम-किन मरहलों को हल करता, दुनिया के सारे पहाड़ और समुद्र उलांघता, उस शहज़ादी के पास आ जाता था, जो अपने दिल की बन्द कली में उसे छुपा लेती। इसीलिए तो मैंने अपने कालेज के दोस्तों और रिश्ते-नाते के भाइयों से कह रखा था कि मैं ऐसी-वैसी लड़की नहीं हूं; कोई मुझसे चूं करके तो देख ले ! आपकी बला से चाहे कैसे ही अच्छे कपड़े पहने, कितना ही 'मेकअप' करें, चाहे मेरी आंखों में सोना दमके या गालों पर गुलाब महके और मेरे, मेरे—छिः, इन मर्दों की नज़रें कैसे बुरी होती हैं ! मगर, खैर, इनसे निपटना कोई मुझसे सीखे। मैंने कितनों के दिमाग ठिकाने लगा दिए, कितनों के होश-हवाश उड़ा दिए। मगर कौन है, जो मेरी कद्र करे। कल वह चुड़ैल बिलक़ीस एक फटीचर-सी कपड़े की दूकान में खड़ी थी। मेरी आंखें फूटें जो इससे ज्यादा बदसूरत औरत मैंने कोई और देखी हो। साथ में वह नफासतपसन्द मगरूर अहमद था—एक बच्चे को कंधे पर लादे, दो की उंगलियां पकड़े। मगर ऐसी बुरी गत बनाए हुए भी जाने क्यों बिलकीस फ़ख्र से अकड़ी जा रही थी। अहमद मुझे मुसकरा-मुसकरा के देख रहा था और बिलक़ीस जाने क्या बके जा रही थी, "अरी मज्जो, तू कितनी बदल गई ! अफ़सोस हुआ यह सुनकर कि सुरेन्द्र ने तुझे छोड़ दिया। और तुमने छोटी बेबी को देखा, अब तो बातें करने लगी है ! कल वह कह रही थी, पप्पा, मेरा ब्याह कर दो !" फिर दोनों मियां-बीवी हंसते-हंसते लोट-पोट हो गए। बाज लोगों को जाने कहां से हंसी का खजाना हाथ लग जाता है।

मगर सुरेंद्र ने मुझे छोड़ दिया था तो बिलकीस को क्यों अफ़सोस हुआ। मैंने भी तो सुरेन्द्र की सूरत पर थूक दिया था। क्या मेरे लिए दुनिया में मर्दों की कमी है ? अरे, मैं तो वह हूं जिसकी एक झलक पर आज हजारों मर्द मर मिटें। लेकिन मुझे तो अहमद पर ताज्जुब हो रहा है। हा, कैसा बाजौक़ इन्सान इस बुरी तरह तबाह हुआ। 'औरत की रूह' सिराज ने उसका यही नाम रखा था। वह कहता था कि मैं इन हजारों औरतों मे औरत की रूह तलाश करता फिरता हूं। अक्सर मैं सिराज के साथ किसी क्लब या सिनेमाहाल में इसे देखती थी तो सताने के लिए जरूर पूछती थी, "कहिए रूह मिली या नहीं ?" और वह उदासी से जवाब देता—"रूह, अरे, मुझे तो जिन्दा जिस्म भी नहीं मिलता !" अहमद की बात जाने क्यों मुझे कभी अच्छी न लगी। उसकी नजरों में मेरे लिए कैसी नफ़रत होती थी। बाज़ मर्दों को अपने बारे में बड़ी खुशफ़हमी हो जाती है; अपने-आपको बहुत बुलन्द समझते हैं। सिराज भी ऐन-बैन ऐसा ही था। हमारे यहा आकर वह घण्टों बैठता, खाता-पीता, मगर दूसरे लड़कों की तरह उसने कभी मेरी अहमियत को नहीं माना, जैसे मैं उसे घर में नज़र ही नही आती, जैसे मेरी सुनहरी आखों में न कोई कशिश हो, न अनमोल हंसी में कोई जादू। मुझे बड़ा गुस्सा आता था उसकी हरक़तो पर। आप समझते होंगे कि मुझे उसकी कोई परवाह थी ! अब आपको कैसे बतला दूं ? सबूत के लिए सिराज को कहां से पेश करू। वह तो अपने बीवी-बच्चों समेत शायद अमरीका में है, शायद लन्दन में हो—मेरी बला से ! जाने उसकी बीवी कहां ले डूबी होगी उसे। मगर यह लड़कियों की ज़ात कैसी खुदग़र्ज होती है। जिन्दगी-भर की मसर्रतें बेचारे एक ही मर्द से वसूल करती है; सर पर चढ़कर नाचती हैं। और मर्द निहाल होते जा रहे हैं, कि रूह मिल गई।

हां, तो मैं क्या कह रही थी, वह शीला चुड़ैल का किस्सा। अल्लाह तौबाह ! कैसी बेहया निकली वह लड़की ! उसकी पड़ोसिन राना, लड़कियों को सुनाती थी कि शीला कैसे छिप-छिपकर महमूद से मिलती थी, कैसे

अपनी मा से कह दिया कि वह मर जाएगी महमूद के बगैर।

सुनकर हम सब लड़कियां थर-थर कापती थीं; हमारे मुह खुश्क हो जाते, पसीना छूट जाता।

एक बार मैंने हंसी-हंसी में कह दिया था कि मैं व्याह नही करूंगी। मुझे किसी मर्द पर यू इजारदारी जरा अच्छी न लगती थी। मगर इतनी-सी बात सुनकर अम्मा मेरी बेहयाई पर रोते-रोते निढाल हो गई थीं। दादी को भी ज़हर लगती थीं मेरी बाते। आप सारी दुनिया की मशिक़ूर खुडस बूढियों को छान डालिए, मगर हंसी पर कंट्रोल करनेवाली बुढ़िया मेरी दादी के सिवा और कोई न मिलेगी।

आप ही बताइए कि जब सिराज अपने दोस्त नवाज के रोमास सुना रहे हों तो कैसे हंसी न आएगी! उंह, तो गोया मुझे नवाज की बात भी सुनानी पड़ेगी। अरे भाई—वह एक सीधा-सादा किसी जागीरदार का बेटा था। इश्क लड़ाना उसकी 'हाबी' थी। मगर इतनी बात है कि ऐसे ख़ूबसूरत नौजवान मैंने कम देखे है, जो लड़कियों को किसी मिक़नातीसी कशिश से अपनी तरफ खींच लें। वह हर साल बड़ी पाबंदी से दो इश्क करता था। सिराज सुनाते थे कि किसी तरह एक इश्क़ की मुद्दत खतम होने से पहले उसके दोस्त कुंवों जाल डालते फिरते नयी महबूबा के लिए। फिर बाकायदा एक लड़की का चुनाव होता। दोस्त पहले उसे खुद परखते, फिर नवाज शिद्दत से नये इश्क़ मे मुबतला हो जाता। नवाज के लतीफो पर मुझे बहुत हंसी आती थी। सिराज कहते थे कि एक हजार की अंगूठी से तो वह इश्क की शुरुआत करता। एक हजार! अल्लाह मेरे, यहां तो कभी एक चांदी का छल्ला भी नसीब न हुआ; आता कहां से! अब्बा की सारी कमाई तो भाइयों की पढाई में झुंकती जा रही थी। अब्बा समझते थे कि लड़कों को पढ़ाना तो व्याज पर रुपये का कारोबार चलाना है; बाद में मय सूद के वसूल कर लो। सिराज की जबान में भी क्या जादू था। घंटों उसकी बातें सुनो और दिल न भरे। मगर दादी को तो मेरी हंसी से बैर था।—"अरी, सिराज तेरा कौन-सा माजाया है कि

घंटों सर जोड़े बैठी रहती है ?" वाह यह भी खूब रही ! नाकरदा गुनाहों की सज़ा ?

जब से शीला की कहानी मशहूर हुई थी, जाने क्यों अम्मां मुझे हव्वा समझने लगी थीं। हां तो, मैं शीला की कहानी सुना रही थी। मगर भाई, उसकी हिम्मत की दाद देनी पड़ेगी। सुना है, उसके बाप ने उसे कमरे में बन्द कर दिया तो वह दूसरी मज़िल से छलांग लगा कर भाग गई। मुझे उसी दिन यक़ीन हो गया कि इश्क़ में जरूर कुछ न कुछ रूहानियत होती है। वरना दूसरी मंजिल से गिरकर तो इंसान इश्क़े-हक़ीक़ी में जज्ब हो जाए। अचानक शीला सारे स्कूल की 'हीरोइन' बन गई थी। सारी लड़कियां बड़े फख्र से उन लमहों को याद करतीं, जब शीला ने उनसे बात की थी, उनके साथ खेली थी, उन्हें गालियां दी थीं। जाने इन लड़कियों के दीदे का पानी कैसे मर जाता है; जाने कहां से इतनी जुरअत आ जाती है कि एक अनजाने मर्द के साथ यूं चली जाती हैं।

अल्लाह क़सम, मैं भी सिराज के साथ 'पिक्चर' देखने कभी न जाती, आज इस अंधेरे कमरे में अकेली पड़ी अपने दिल की धड़कनें आप न सुनती, अगर दादी मुझे शीला बनने का ताना न देतीं। मैंने तो नवाज़ की एक हज़ार की अंगूठी वाली बात भी भुला दी थी। तौबाह-तौबाह, जाने कैसी बेहया लड़कियां होती हैं जो एक हज़ार के लिए इतनी नीच बन जाती हैं।

दूर क्यों जाइए, खुद हमारे ख़ानदान में एक से एक छटी हुई लड़कियां पड़ी हैं। बेशक मेरा खानदान बड़ा नामी-गिरामी है। मगर इस ऊंचे ख़ानदान ने मुझे कौन-से लड्डू-पेड़े दिए हैं जो मैं सबके ऐब बिल्ली के गू की तरह छिपाती फिरूं। अभी तो मैंने दुपट्टा ओढ़ना भी न सीखा था कि सिद्दीक़ा आपा ने अपनी पसन्द से शादी की थी। और हमारी शमीम आपा थीं, हाय अल्लाह, अब जोर से कैसे कहूं, उनके ख़त खुद उनके अब्बा ने पकड़े थे।

मगर यह ख़ानदान मेरी ज़रा-सी बात न सह सका। सिराज के साथ

'पिक्चर' देखना ऐसी क्या खतरे की घंटी थी कि सब चौंक पड़े थे मुझसे, और मैं भी कोई ऐसी-वैसी लड़की थी ? सिराज बेचारा तो खुद ही मुझसे कांपता था। मेरी जुरअत पर वह घबरा जाता। मैं उसके साथ होटलों में गयी, 'पिक्चर' देखे, और फिर उसके कमरे में घण्टों बैठी; मगर इसी तरह जैसे किसी सहेली के साथ आ बैठी हूं। मगर एक दिन सिराज अपनी तौहीन पर बिगड़ बैठा, "तुम्हें मुझसे डर क्यों नहीं लगता सज्जो ?" और मेरे मुस्कराने पर वह बिफर गया, और फिर बाद में मेरी आंखों का सोना लुट जाने पर खुद ही आंसू बहाने लगा। उसका क्या गया ? अल्लाह कसम, मेरा दिल तो उसके आंसुओं में बह गया। मैं कमबख्त किस काम की थी ! सिवाय घर और कालेज के चक्कर लगाने के, मेरा और काम ही क्या था ? मैं चाहती थी, इस बात को भी भूल जाऊं। मगर सिराज भूल न सका। उसने कैसी-कैसी मेरी नाज़-बरदारियां कीं। जिन्दगी-भर का बन्धन बांधने के लिए कहीं से एक अंगूठी खरीद लाया वह, जैसे मैं इस अंगूठी के बदले, ज़िन्दगी-भर के लिए हार मान जाऊंगी। और वह अपनी फ़तह पर नाज करने लगेगा। सिराज से मेरी नफ़रत बढ़ती ही गई। मेरे चेहरे का रंग उड़ता ही गया। जाने कैसे शीला महमूद पर मर मिटी ? ज़िन्दगी-भर के [illegible] लिया। तौबाह-तौबाह, कैसी बेबाक होती [illegible] सोचकर हैरान हूं, मगर कमूरवार मर्द [illegible] जादूगर होते हैं। अब नवाज ही की [illegible] इत्तफ़ाक़ से उसे सिराज के कमरे में देखा [illegible] महसूस हुआ कि लड़कियां उसकी एक हजार [illegible] तो देखती ही न होंगी, उसकी हंसी की कशिश बिचारियों को गिरफ़्तार कर लेती होगी। मेरी आंखों में कौन-सा सोना था, मेरी गुलाबी रंगत में कौन-सी खुशबू थी ? मेरे—मेरे—मुझे तो कुछ भी याद न आया। नवाज मेरे लिए जो जेवर का 'सेट' लाया था, उसने मुझे जो साड़ियां दिलवाईं, वह तो मुझे उस दिन याद आईं जब सुरेन्द्र के साथ मैं एक सूती साड़ी पहने

निकली और रात-भर सर्दी से कापती सडकों पर घूमती रही। मगर उस वक़्त तो मैं सिर्फ़ घर वालों को जला रही थी। आखिर उन सबको मेरी शराफ़त पर भरासा क्यों नही रहा था ?

शाम को जरा देर हुई और दादी ने घर में क़दम रखते ही कुत्ते की सिर-टांग ली। अम्मां अलग अपने नसीबों पर टसुवे बहा रही हैं। कभी-कभी तो मेरा जी चाहता था कि अम्मा वाकई किसी आवारा लड़की की मा होतीं। नवाज़ ठीक ही कहता था कि यह दुनिया तो हमसे कभी राज़ी न होगी, फिर क्यो न अपनी मनमानी करके मरें। कितना जी चाहता था कि कोई रूमानी-सी अंग्रेज़ी 'पिक्चर' देखकर लाहौल' पढ़ें, अच्छी-अच्छी साड़िया पहनकर किसीके साथ घूमने जाए। मगर सिराज की बात बिलकुल सच थी कि यहा दबते को सब दबाते हैं। औरतें जब तक खुद अपने लिए कुछ न करेंगी, किसीको क्या ग़रज पड़ी है, फूलों की तरह आज़ादी का 'कासकेट' उनकी खिदमत में पेश करे ! बस, मैंने तो सोच लिया था, कुछ न कुछ ज़रूर करूंगी। क्या दुनिया में इन लड़कियो का एक ही मसरफ़ (प्रयोजन) है कि इन मर्दो के लिए मुसकराते खुद जल बुझें। मुझे तो उन सतियों, सावित्रियों और प्रेमियों से शिद्दत से नफ़रत थी, जिन्होंने मर्दो के लिए अपने-आप को मिटा दिया, धरती में समा गईं। रू···रू···यह रूह क्या चीज होती है, भाई ! आज तक वह मेरी समझ में न आई। ज़िन्दगी ज़िन्दगी है ! चाहे इसे आंसू का क़तरा बना लो या नवाज़ की तरह एक लम्बा क़हकहा। मेरी कौन-सी ख्वाहिश थी जो नवाज़ ने पूरी नही की। ज़िन्दगी में अब चाहे कभी हसी से मुठभेड़ न हो, मगर इस ऐश की तलाफ़ी फिर भी न हो सकेगी। उसकी मुहब्बत पर मुझे सूरज की रोशनी की तरह यक़ीन था, मगर अचानक काली रात ने आ घेरा। नवाज की मुहब्बत का कैलेंडर बदल गया।

घर वालों का बस चलता तो मुझे कच्चा चबा डालते। मुझ क्या मालूम था कि मर्दो की याददाश्त इतनी कमज़ोर होती है; वे हर बात

१. शैतान को भगाने की क़ुरान में एक बड़ी आयत है।

भूल सकते हैं। मैं भी कोई दुनियां-जहां की सी आवारा लड़की तो थी नहीं कि बहुत-सों को खगाल चुकी थी। मेरी तो किस्मत ही खराब थी। एक हमारी पड़ोसिन ललिता थी कि क्या कुछ नहीं कर डाला उसने ! बम्बई जाकर अपनी मां के साथ एक लड़की भी ले आई, जिसे सब उसकी बहन कहते थे। और फिर देखो तो अपने मियां के साथ रास रचाती थी। मिया वेचारा भीगी बिल्ली बना दौड़-दौड़कर हुक्म बजा लाता। हमारी अम्मां दिन-रात यही कांसे जाती थी कि अब कोई तुझे कहने को न आएगा—तो गोया मैंने अपनी रूह जो कोरी सुराही की तरह बचाकर रखी थी, वह धरी रह जाएगी।

घर वालों की फटकार से बचने के लिए मैंने ललिता के यहां पनाह ली थी और ललिता के भाई सुरेन्द्र ने मुझसे पनाह ढूंढी। ललिता ठीक कहती थी कि सज्जो, लोग हमें मुफ्त में बदनाम करते हैं। यह नहीं देखते वे कि इन मर्दों के काटे का मन्तर कहां है ?

सुरेन्द्र भी उलटी खोपड़ी का था। एक बदसूरत चेचकरू लड़की पर वह मरता था, और वह आंख उठाकर भी न देखती थी। उसके फ़िराक़ में सुरेन्द्र ने जोग ले लिया था। दुनिया की हर खूबसूरत औरत मे वह अपनी महबूबा को टटोलता फिरता था। जब कभी उस लड़की का ज़िक्र आता, सुरेन्द्र फ़ौरन गाजर के हलवे की याद करने लगता। वह गाजर के हलवे में इतनी मिठास घोलती थी कि उसकी बेवफ़ाई का जहर भी उसकी शीरनी न मिटा सकी। उसकी आग में खुद मैं भी जल उठी—नहीं, मुझे सुरेन्द्र से कोई हमदर्दी नहीं थी। मैं तो नवाज़ को जला रही थी। यों कहिए कि मैं तो दरअसल घर वालों से बदला ले रही थी। मैं उन सबसे बदला लेना चाहती थी जो मेरे दरवाजे पर शहनाइयां बजाने और बारात लाने से इनकार कर रहे थे, मुझे सूली पर चढ़ाने को तैयार थे। एक दिन तो—एक दिन तो अब्बा ने मुझपर हाथ भी उठा दिया। बस उसी वक़्त मैंने तय कर लिया कि अब मुझे इस घर में रहना नहीं है। उस रात जाने क्या-क्या हुआ। मैं जैसे ख्वाब मे उठकर सुरेन्द्र के घर पहुंच गई। वह

हैरान था। उसने शायद कभी भी न सोचा होगा कि मैं, ऐसी बददिमाग मगरूर हसीना, एक रात पनाह मांगने उसके दरवाज़े पर जाऊंगी। मैं क्या करूं ? सारा कसूर तो अब्बा का था। वह मुझे अपनी कार में पच्चीस मील दूर अपने गांव ले गया। वहां मैं एक हफ़्ते बाद उस ख्वाब से जागी, एक महीने तक कमरे से बाहर न निकली। बाक़ी दुनिया में अब क्या रखा था !

मेरा जी चाहता था कि मेरे मुंह पर भी सुरेन्द्र की महबूबा की तरह चेचक अपने दस्तख़त कर दे। मैं उनके लिए रोटी पकाऊं, गाजर के हलवे में खूब शक्कर डालूं। सुबह जब गांव जागता था तो शौहर अपनी बीवियों को पीटने से दिन शुरू करते थे। वह कैसी अफसानवी जिन्दगी थी—मार और प्यार, नफ़रत और मुहब्बत के खेल ! ऐसे अफसाने मुझे बहुत पसन्द थे। सुरेन्द्र मुझपर जी-जान से फिदा था। एक लम्हे को वह मुझे न छोड़ता था। मगर मैं हर आहट पर उछल-उछल पड़ती। दिन-भर सुरेन्द्र के एक वकील दोस्त के पास बैठी मैं अपना बयान रटा करती थी, जो अदालत में मुझे अब्बा और दादी के खिलाफ देना होगा। डर के मारे मैं बाहर न निकलती कि कहीं अब्बा की नज़र न पड़ जाए, कहीं मुझे कोई खींचकर घर न ले जाए। मगर एक दिन अहमद ने बताया कि अब्बा ने मेरे खिलाफ़ कोई कार्यवाही नहीं की, वे अब मुझे घर बुलाने पर तैयार नहीं हैं। मैं अंगारों में नहा गई; जी चाहा अपने कपड़ों पर तेल छिड़ककर आग लगा दूं। उस गाजर के हलवे ने मेरी जिन्दगी में ज़हर घोल दिया था। उस चुड़ैल ने ज़रूर सुरेन्द्र को उसी हलवे में रखकर उल्लू का गोश्त खिलाया होगा। और क्या, ऐसी चालाक औरतों से क्या बयीद है ! एक दिन मैंने कहा—"गाजर का हलवा कौन-सी अनमोल चीज है। मैं तुम्हे रोज बाज़ार से लाकर खिला दिया करूंगी"—बस वह बिगड़ गया। उसी दिन यह डोर टूट गई। तो मैंने भी उससे कौन-सा जनम-मरण का बंधन बांधा था ? मैं खुद ही किसी दिन उस मुफ़लिस क़ल्लाश की औकात पर थूक देती, वरना दुनिया क्या कहती कि इन्हीं पुरानी साड़ियों के लिए

बैरागन का जोग लिया था ! मेरी स्कूल की सहेलियां कहीं मिल जातीं तो हमकर मेरे बेजोड़ कपड़ो का मजाक उड़ाती। अदबदाके मेरा घर देखने आ धमकती, जैसे मैंने उस कंजूस के साथ घर बसाने के सपने सजाए थे।

अब क़यामत के आने में क्या शुबहा रहा ! तौबाह्-तौबाह् ! आवारगी इतनी बढ़ गयी है कि सुना है शीला और उसके आशिक़ को लोगों ने एक ट्रेन में जा पकड़ा था। जरा मुलाहिज़ा तो फ़रमाइए इन लड़कियों की जुरअत—कैसी ढिठाई से उसने अदालत मे बयान दिया होगा। जाने क्या-क्या जिरह् की होगी वकीलों ने। मेरे तो बदन में कांटे आ जाते है, ऐसी बातें सोचकर। मेरा बस चलता तो चुहिया की तरह् पूरी ज़िन्दगी किसी बिल में घुसकर काट देती, वरना शरीफ़ लड़कियों का बचाव कहां है। फिर मेरी आंखों का कमबख्त सोना—जाने मेरी सूरत पर कौन-से हीरे टंके थे कि लोग एक बार देखकर फिर मुंह् न फेरते।

मैंने तो अल्लाह् क़सम, कभी एक मिनट के लिए भी न सोचा था कि शीला की तरह् किसीके साथ फरार हो जाऊं। मुझे सती-सावित्री बनने से बड़ी नफरत थी। बीबी, बीवी—मर्द की सबसे बड़ी फ़तह्—औरत का सबसे ज़लील रूप—क्या मेरे सीने में धड़कता-धड़कता दिल नहीं था ? क्या मैं अपने मन के मोती को तलाश करती इतनी दूर नहीं चली आई ? मगर औरत का ऐसा रूप मुझे कभी न भाया। जाने बीवी बनकर, औरत इतनी जालिम क्यों बन जाती है !

रमेश बेचारा सीधा-सादा नौजवान था। गरीब की किस्मत फूट गई थी कि बीवी तिगनी का नाच नचाती थी। सारी तनखा छीन लेती—शराब पीकर आता तो घर से बाहर निकाल देती, किसी औरत की तरफ़ देखता तो मैके चली जाती। मैंने उसका दिल बहलाने के लिए क्या-क्या नहीं किया ? अपने पास से मंगवाकर शराब तक पिलाई। रोज़ उसे 'पिक्चर' दिखाने ले जाती। दिन-भर हम दोनों बैठे 'रम्मी' खेलते। एक दिन वह हारता ही गया। रुपये से बात घड़ी तक पहुंची, फिर अंगूठी पर आई। मगर वह अचानक ख़फ़ा हो गया। इसे कैसे दांव पर लगा

सकता हूं ! यह तो सीता की याद है। अचानक वह अंगूठी मुझे सांप का फन नज़र आने लगी। यह मर्द, चाहे अपने बारे में कुछ ही कहते फिरें, मगर बेहद पुराने ख़्यालों के होते हैं। गाजर के हलवे के बग़ैर इनका किसी चीज से पेट नहीं भर सकता !

मेरा जी चाहा वे सारे गुजरे हुए दिन वापस लौट आएं। मैं फिर से पैदा होऊं। फिर से दादी मेरे हंसने पर टोकें और मैं आंसू पीकर रह जाऊं। हर तरफ़ से आंखें बन्द करके उस मर्द के हाथ में हाथ दे दूं जो मेरी याद की इतनी हिफाजत कर सके। उसके लिए मैं दूसरी मंज़िल से छलांग लगा सकती हूं, गाजर-हलवा पका सकती हूं। उसके लिए मैं अपनी रूह का तोहफा हमेशा महफूज रखती।

अपनी वफादारी का यकीन दिलाने के लिए शकुन्तला को बारह वर्ष तक तपस्या करनी पड़ी थी। एक सीता थी जिसके लिए धरती ने अपने पट खोल दिए थे ताकि वह ख़ुद छिप जाए और उसकी पाकीज़गी का सूरज हमेशा चमकता रहे। मैं भी रफ़्ता-रफ़्ता धरती में समा रही हूं। मेरी आंखों के ख़जाने खाली हो चुके है। मेरे गालों के गुलाब मुरझा रहे है। जाने वह शहजादा कहां है, जिसे अल्लाह मियां ने मेरे लिए दुनिया में भेजा होगा। कहीं किसी चुड़ैल ने बीबी का रूप धारकर उसे कैद तो नहीं कर लिया ?

कौन आएगा अब यह देखने कि मैंने अपने जीवन के हवन-कुंड में इन मसर्रतों की आहुति डाल दी है—मैं, जिसकी रूह बंद कली की तरह पाक और मासूम है—ऐ सावित्री—ऐ सीता—ऐ मरियम—तौबाह-अल्लाह ! भाई, इस वक़्त मैं अपनी कहानी सुनाने तो नहीं बैठी हूं···

मुझे तो बेहद ताज्जुब हो रहा है कि लड़कियां आवारा कैसे हो जाती हैं। क्या उनके पास वह बन्द कली नहीं होती जिसके अंदर औरत का दिल धड़कता है !

हां, तो मैं क्या कह रही थी···

तो मैं क्या कह रही हूं···?

## वाजिदा तबस्सुम

सय्यद घराने में पैदा हुई, जहां पर्दे की कड़ी पाबंदी थी और लड़कियों की किसी प्रकार की स्वतन्त्रता की कल्पना तक असम्भव थी। हद यह है कि मेरे अब्बा ने हम बहनों को इसलिए पाठशाला में दाखिल न करवाया कि 'लड़कियां पाठशालाओं में पढ़कर आवारा हो जाती हैं।' तीन साल की आयु में जब हमारे सिरों पर से मां-बाप दोनों का साया उठ गया तो चचा ने नानी अम्मा से बड़ी मिन्नतें कीं और यू हमें पाठशाला में दाखिला मिल गया।

पिता लाखों की जायदाद के मालिक थे लेकिन जब मरे

तो कफ़न भी दूसरों ने पहनाया और हम आठ भाई-बहन फाक़े कर-करके और दिनों को धक्के दे-देकर आगे बढ़े। एफ० ए०, बी० ए० और फिर एम० ए० मैंने बिना पुस्तकों के प्राइवेट तौर पर पास किया।

पहले-पहल १९५५ ई० में जब मैंने कहानियां लिखनी शुरू कीं तो खानदान वालों ने बड़ा शोर मचाया।

"अरे ये कहानियां क्या शरीफ़ बहू-बेटियों के पढ़ने योग्य हैं!"

"इसकी कहानियां तो विवाहित स्त्रियां भी नहीं पढ़ सकतीं।"

"देखना, एक दिन बाप की नाक कटवा कर रहेगी!"

आखिर तंग आकर एक दिन मुझे कहना पड़ा। "कटेगी तो मेरे बाप की नाक कटेगी, आपका क्या बिगड़ेगा?"

और वह दिन और आज का दिन—आज वही लोग मेरे पीछे अपने मिलने वालों से कहते फिरते हैं:

"अरे वह वाजिदा तबस्सुम मेरी भतीजी है!"

"हां, हां, वही वाजिदा! मेरी अज़ीज़ है। बड़ी अच्छा कहानियां लिख रही है।"

"इसके बाप तो मेरे दोस्त थे। खानदान का नाम रोशन कर दिया बिटिया ने!"

१९५९ में कहानियों का एक संग्रह 'शहरे-ममनूअ़' के नाम से छपा और १९६० में शादी हो गई। पहले हैदराबाद में रहती थी, आजकल अपने पति के साथ बंबई में हूं।

पता: फ्लैट नं० १०, रेलवे ब्लाक नं० १३१, सान्ताक्रूज़,
बम्बई—५४

# काले बादल

खड़पड़ से शकूर की आंख खुल गई। तकिये से सिर उठाकर देखा तो हमीदा खाट के पास खड़ी-खड़ी, दीवार से लगे तख्ते से कोई चीज निकाल रही थी।

"क्या कर रही है इतनी रात गए ?" वह वहीं पड़े-पड़े बोला।

"जाने पेट में क्या गड़बड है, न लेटा जाए न बैठा जाए ! अजवायन खा रही हूं।"

शकूर तेज़ी से बिस्तर पर उठ बैठा, "पेट में गड़बड़ है ?" वह चीखने के से अदांज़ में बोला।

हमीदा ने हैरानी और जरा डर से पलटकर देखा, "हां, हां ! मगर तुम इतना शोर क्यों मचा रहे हो ? क्या पेट में दर्द होना ऐसी अनहोनी बात है ?"

वह उसकी बात टालकर बोला, "यह तो बता तेरा कौन-सा महीना चल रहा है !"

हमीदा ने जरा शर्माकर सिर झुकाया और फिर उंगलियों पर हिसाब जोड़ती हुई बोली, "इस चांद को पूरे आठ महीने तो हो गए !"

"तो तेरे हिसाब से यह नवां चल रहा है ना ?" वह बेचैनी से बोला।

"हां।" वह ज़रा रुक गई, "फिर तुम्हारा मतलब ?"

"अरी नेकबख्त, मैं यही कह रहा हूं कि पेट में सारी गड़बड़ बच्चे की है !" वह उचककर बोला, "अरी, तू कैसी मां है कि यह तक पता नहीं चला सकती कि दर्द काहे का है !"

"ऐसे कौन-से मैंने दस-बारह बच्चे जन डाले हैं कि पता चला लूंगी ?" वह तुनककर बोली, "और तुम भी जाने क्या बक रहे हो ! अभी नौ महीने

पूरे तो हुए भी नहीं !"

"रही अक़्ल की बोदी की बोदी ! अरी पगली, नवें की छांव पड़ जाए, बस है ! मैं तो कहता हूं अब घंटे दो घंटे में होता ही है बच्चा ! तेरा रंग तो देख पीला पडा जा रहा है !" वह तजुर्बाकार दाई के से अंदाज से सिर हिलाकर बोला।

हमीदा मचल गई, "अहं ! रंग पीला पड़ा जा रहा है ! फ़ाके जो टूटते रहते हैं आए दिन, इसका कोई ख्याल ही नहीं ! और क्या गालों पर गुलाल बरसेगा ?"

उसकी बात न सुनकर शकूर अपनी ही हांके गया, "अरे, अरे, क्या बात हुई ! मेरे क़ब्र मे सोने का दिन और तेरे बच्चा जनने का दिन साथ ही साथ पड़ा। भला बच्चे को छोड़कर मेरा दिल क़ब्र में कैसे लगेगा ?"

हमीदा पेट को दबाती हुई चिल्ला पडी, "देखो, मैं कहे देती हूं आज से तुम यह बेहूदा काम नहीं करोगे। इतने दिन जो कर लिया सो कर लिया, मगर अब तुम एक बच्चे के बाप बन रहे हो तुम्हे मेरा कोई ख़्याल नहीं, अपने बच्चे का तो आएगा ?"

शकूर चापलूसी से बोला, "मेरी रानी, यह तो तूने ठीक कहा कि कब्र में सोऊं नहीं, मगर फिर यह तो बता कि खाएंगे क्या ? तू समझती है तेरा मर्द ऐसा ही बड़ा जमीदार है !"

"मुझे नहीं मालूम !" हमीदा का चेहरा उतर गया, "तुमने सदा अपने दिल की की है, कभी मुझे यह समझने का हक़ ही नहीं दिया कि मैं तुम्हारी कुछ लगती भी हूं। मगर तुमसे सच कहती हूं, अब मैं तुम्हें क़ब्र के अन्दर पांव भी न धरने दूगी। कोई हद है। सूरत तो देखो, आंखों के गिर्द काले घेरे, गाल पिचके हुए, छाती कमज़ोर, सारे जिस्म की रगें उभरी हुईं, और इसपर जब देखो तब क़ब्र में कूद पड़ते हो ! मुझे नहीं चाहिए ऐसी रोटी ?"

"तो फिर फ़ाक़े करती रह !" शकूर तंग आकर बोला।

"हां हां, करूंगी, जरूर करूंगी ! तुम्हारे साथ रहकर तो मुझे दोजख

भी जन्नत के बराबर है।"

शकूर चिढ़कर उठ खड़ा हुआ, "अहं, बड़ी आई जन्नत वाली ! अब यह शुतुरमुर्ग का बच्चा जन रही है तो उसे क्या खिलाएगी ? मेरा सिर या अपना ?"

हमीदा ने प्यार से अपना पेट पकड़ लिया, "शुतुरमुर्ग का बच्चा, वाह ! ऐसा क्या तुम्हें भला लगता है शुतुरमुर्ग कहना ! तुम्हें क्या ? मैं कुछ भी खिलाऊं, न भी खिलाऊं तो क्या फ़र्क पड़ता है ?"

"क्या फ़र्क पड़ता है ? तो क्या भूखा मारेगी ?"

हमीदा मुस्कराकर बोली, "भूखा क्यों मारूंगी, अरे तुम्हें तो पता ही नही ! मां बनकर तो भूख-प्यास सब मिटने लगती है; तब फ़र्क नहीं पड़ता !" वह खोए हुए अंदाज में बोली, "जब से मेरा एक जी से दो जी हुआ है, यक़ीन करो, मुझे ऐसा लगता है कि बस दुनिया-जमाने की सारी खुशियां मिल गई हैं !"

"अहं ! खुशियां मिल गई है ! तभी यह मुह सरसों का खेत बना हुआ है !"

अभी उसकी बात मुंह मे ही थी कि हमीदा चक्कर खाकर गिर पड़ी। शकूर बिस्तर से उछलकर उसे संभालने को भागा। दोनों हाथों पर उठाकर लाया और खाट पर डालकर धीरज से बोला, "कैसा लग रहा है हमीदा ?"

हमीदा की आंखें बंद हुई जा रही थीं, कराहकर बोली, "जाने कैसा-कैसा लग रहा है ! इस दर्द का वास्ता, तुमसे एक वायदा चाहती हूं !"

"क्या ?" शकूर दुःख से बोला।

"यही कि मेरी खातिर, अपने होनेवाले बच्चे की खातिर तुम आज के बाद कभी क़ब्र में न उतरोगे !"

यह बड़ी कठिन घड़ी थी। एक तरफ जिन्दगी और मौत की कशमकश में उलझ रही बीवी का दिल, और दूसरी तरफ़ पेट का सवाल। वह पशोपंज में रह गया।

"नादान न बन, हमीदा ! तू आज से पहले भी बार-बार कह चुकी है, और मैं भी यही जवाब दे चुका हूं कि भले ही मैं घर बैठ जाऊं, मगर फिर जीने का क्या बन्दोबस्त होगा। सब दरवाजे बंद देखकर ही तो मैंने यह राह निकाली है, वरना क्या तू समझती है मुझे अपनी जान प्यारी नहीं, तेरी जान अजीज़ नहीं, और क्या यह नन्हा-सा बच्चा अज़ीज़ नहीं ? मगर···मगर···"

वह बेबसी से हाथ मलने लगा।

फिर उसका दिल हाथ में कर लेने को आख़िरी वार फेंका, "तो क्या अपने दिल के टुकड़े को भूखा मारेगी ? जब वह भूख से तिलमिला-तिलमिलाकर तेरी सूखी छातियों पर हाथ मारेगा तो तू क्या करेगी ? जब वह भूख से निढाल हो-होकर यों ही मुर्दा-सा होकर पड़ जाया करेगा तो तू उस वक़्त क्या करेगी ? तू कैसी बात करती है हमीदा ! मां बनने से पहले अक्लमद बनना पड़ता है, मगर तू मां तो बन रही है, अक़्ल का दूर-दूर पता नहीं !"

हमीदा ने पसीने का रेला पोंछकर, कराहकर उसका चेहरा देखा और धीमे-धीमे बोलने लगी, "ज़रा अपना चेहरा देखो, पिछली बार जो क़ब्र में उतरे थे तो आज तक सेहत नहीं सुधरी। मैं तो यह सोचकर ही घुट जाती हूं कि तुम यूं मिट्टी के नीचे बारह-बारह घंटे कैसे सो सकते हो !"

शकूर पेट ठोककर बोला, "पेट की ख़ातिर, सिर्फ़ पेट की ख़ातिर।"

"आग लगे ऐसे पेट को ! मैं नहीं सुनूंगी। अब तुम घर से क़दम निकालकर तो देखो !" उसका चेहरा दम-ब-दम रंग बदल रहा था।

"यह तो जिन्दगी-भर चलता ही रहेगा, हमीदा ! तू बेकार दिल कुढ़ा रही है। देखो, ऐसे वक़्त ग़म खाना अच्छा न होगा !"

हमीदा ने आंसू-भरी आंखों से उसकी तरफ़ देखा तो वह नर्मी से बोला, "अगर तू आज से नौ महीने पहले यह बात करती हमीदा, तो शायद मैं मान भी जाता, मगर अब···अब" वह खुशी से बोलने लगा, "तू और मैं एक बच्चे के मां-बाप बन रहे हैं ! भला उसे कैसे भूखा रखें ?"

हमीदा पेट को दबाए खाट पर उठ बैठी। उसकी सावली गरदन पर पसीने की धारें बही जा रही थीं, आंखों में आंसू चमक रहे थे, बाल झूल-कर सामने आ गिरे थे, "तो तुम्हारा कहना यह है कि अब तुम नन्हेजी की खातिर कब्र में सोने पर मजबूर हो!"

"हां।" वह जैसे बात टालने के लिए बोला।

"तो···तो···" हमीदा ने दो-एक बार थूक निगलने की कोशिश की, फिर बोली, "तो मैं नन्हे को डाक्टरनी के हाथ बेच दूंगी। हजार-पांच सौ जो मिल जाएंगे, उससे तुम कोई धंधा कर लेना। बच्चों का क्या है, तुम सलामत रहे तो अल्लाह और देगा!" और वह जब्त की कोशिश करते-करते फूट पड़ी।

अकूर पूरी ताक़त से चिल्लाया, "क्या कहा, नन्हे को बेच देगी? इस-से हटकर कोई बात न सूझी तुझे? इससे अच्छा तो यही है कि तू मुझे अपने हाथों मार डाल···तू जानती है हमीदा···" वह उसके करीब झुक आया। उसकी आवाज भर्रा रही थी और आंसू उमड़ पड़ने को बेक़रार हो रहे थे, "तू जानती है ना कि मुझे बच्चे की कितनी आरजू थी। तूने तो कभी नहीं कहा, मगर शादी के बाद से आज तक—आज तक मेरा एक दिन भी ऐसा नहीं गुजरा जब मैंने अपने पहलू को एक बच्चे से सूना मह-सूस न किया हो। इन सात बरसों में एक बच्चे के लिए मेरा जी कितना तरसा? और अब तू कहती है कि हजार-पांच सौ के लिए मेरे बच्चे को, अपने बच्चे को अपनी जान के एक हिस्से को, अपने और मेरे खून को बेच डालेगी! बोल हमीदा, तेरा इतना जी-गुर्दा है कि ऐसा सोच भी सके? क्या तू चाहती है कि मैं जीते-जी मर जाऊं?"

हमीदा ने बड़े दुःख के साथ सिर उठाकर उसकी तरफ देखा, फिर और भी दुःख के साथ बोली:

"मगर अब तुम्हारी हालत मुझसे देखी नहीं जाती। तीन बरस से दम घोंटते-घोंटते तुम्हारी क्या हालत हो गई है। नाक बांसा तक निकल आया है। मैं ऐसी नींद की माती भी नहीं, जानती हूं कल रात तुम ठसक-

ठसक खांस भी रहे थे। क्या तुम्हें अपने बच्चे का सुख नहीं देखना? तुम तो···"

अभी उसकी बात अधूरी ही थी कि वह पेट पर हाथ रखकर जोर से चिल्लाई। चीख़ की आवाज सुनकर दालान में सोई चची लपकी आई। शकूर ने घबराकर जल्दी से हमीदा को लिटा दिया और खुद दाई को लेने चल दिया।

'···मैं कब नहीं कहता कि इसे मुझसे मोहब्बत नहीं, मगर कैसी उलट-पलट बातें सोचती और समझाती है! नौकरी मिलेगी कहां? शहर तो गया ही था और चार बरस कारखाने में नौकरी भी की! अब मजदूरों के साथ मेरी भी छंटनी हो गई तो मैं भी क्या कर सकता था! यहां गाव में भी क्या-क्या पापड़ नहीं बेले, मगर क्या मिला? अब तंग आकर क़ब्र में सोता हूं तो यह समझती है कि जान-बूझकर मरने पर तुला हूं। यह नहीं सोचती कि एक शौहर हूं और अब एक बाप भी हो रहा हूं। किसका दिल अब इस उम्र में मरने को चाहता है? उफ, यह खासी! मैं तो अपने ख्याल से रजाई में मुंह छुपाए खांस रहा था और उधर उसे तो रत्ती-रत्ती की खबर रहती है। अभी बोल रही थी ना कि मैं तुम्हारी खासी की आवाज सुन रही थी। ऊंह! खुदा ऐसा बेरहम भी नहीं। अरे गाव में रहते उम्र कट गई है, हजार बार देखा कि काले-काले बादल आस्मान पर छाए और बरस गए। तो क्या हमारे सिर के काले बादल कभी न बरसेंगे? बरसेंगे कैसे नहीं? जरा बात तो सुनो, कहती थी बच्चा बेच डालूंगी! ऐसे कैसे बेचेगी? और मैं भी क्या पागलपन की बातें सोच रहा हूं! भला एक मां कभी अपने बच्चे को बेच सकती है? सब मुझे गिराने की बातें हैं। अरे, दाई का घर आ भी गया, और मैं अपने औंधे-सीधे ख्यालों में ही उलझा हुआ हूं।···'

हमीदा और शकूर एक-दूसरे को तक रहे थे। अभी-अभी दाई सारी गंदगी समेटकर बाहर चली गई थी और अब ममता की सारी ठंडक के

साथ हमीदा अपने पहलू में छोटे-से बेटे को लिए पड़ी थी। शकूर के चेहरे का सारा पीलापन, सारी थकन इस वक़्त सुर्ख़ी और ताजगी से बदल गई थी। बाहिर रात का सियाह और गहरा अंधेरा छाया था, मगर दोनों के दिलों में भर-दोपहरी का सूरज-सा चमक रहा था।

"आज सात बरस बाद ख़ुदा ने यह दिन दिखाया है हमीदा," वह भीगी-भीगी आवाज़ में बोला, "मेरी तो समझ में नहीं आ रहा है, मालिक का शुक्र कैसे अदा करूं। सच है ऊपर वाले के पास देर है मगर अंधेर नहीं।"

हमीदा अभी दो चार घंटे पहले की बात भूली नहीं थी और यह घड़ी तो ऐसी घड़ी थी कि सारे गुनाह बख़्श देने और सारे भेद उगलवा लेने की घड़ी थी। उसने मुस्कराकर पूछा, "लाड़ आ रहा है बच्चे का?"

ख़ुशी से भरकर वह बोला, "वाह, क्या बात पूछी है! भला अपने दिल पर हाथ रखकर पूछो, ख़ुद ही जवाब मिल जाएगा!"

"अगर यह कुछ मांगे तो?"

"अरे, यह क्या मांगेगा! इसकी ज़बान कहां है अभी!" वह हंस दिया।

"बच्चे की ज़बान तो बंद रहती है, मगर उसका अंग-अंग बोलता रहता है। और अब इस वक़्त तुम्हारे लाडले का अंग-अंग कह रहा है—'बाबा, मुझे तुम्हारी जिन्दगी चाहिए। तुम्हें मेरे लिए जीना है! मेरी मां के लिए जीना है!'"

शकूर सिर से पैर तक कांप गया, "कैसी बात करती है हमीदा!" वह बस इतना ही कह सका।

"सीधी-सादी-सी बात है जी—तुम यह धंधा छोड़ दो—ख़ुदा कोई न कोई बन्दोबस्त तो कर ही देगा। क्या ऐसा ज़ालिम हो गया है कि भूखों मारेगा!"

ऐसी ख़ुशी के दिन भी हमीदा वही रोज़ी और रोटी का झगड़ा उठा रही थी। वह ज़रा रुककर बोला:

"अच्छा, अच्छा, छोड़ देता हूं यह धंधा, अभी, आज, इसी वक्त—मगर मुझे रुपयों-भरी थैली लाकर दे कि उससे और कुछ नहीं तो रबड़ी की रेढ़ी ही लगा सकूं।"

"अगर मैं आज ही रुपये का बन्दोबस्त कर दूं तो छोड़ दोगे यह धंधा ? सच कह रहे हो तुम ?" वह बड़े भरोसे से बोली।

"हां हां, और कितनी बार कहूं कि…"

एकदम बाहर से डौंडी वाले की आवाज़ सुनाई देने लगी—"आज ग्यारह बजे शकूर तमाशागर क़ब्र में सोएगा और फिर पूरे बारह घंटे बाद बाहर निकलेगा। जिन्दा आदमी मुर्दा ! क़ब्र बिलकुल ढाक दी जाती है। जिस किसीको यकीन न आए तबेले वाले मैदान में आ जाए। तमाशे की कीमत सिर्फ़ चार आना—सिर्फ़ चार आना !"

हमीदा का दिल उछल-उछलकर धड़कने लगा। शकूर ने हंसकर बीवी को देखा—"अरी, शेख की बीवी होकर दिल छोटा करती है ! अब मेरे लिए कौन बड़ी बात रह गई है ? तीन साल से आदी हो गया हूं, मगर तू तो हर बार यूं दिल छोटा करने बैठ जाती है जैसे पहली बार हो—वाह-वाह ! क्या बोदी औरत है भई !"

हमीदा ग़म से बोली, "महीने में दो-दो बार यूं बारह-बारह घंटे के लिए बंद क़ब्र में सोकर लोगों को तमाशा दिखाना, और सिर्फ़ बीस-बाईस रुपये की ख़ातिर ! जाने किसने ऐसी अक़्ल सिखाई है।"

"पेट ने, रानी, पेट ने।" वह हमेशा की तरह पेट ठोंककर बोला।

डौंडी वाला वापसी में फिर हमीदा का दिल उछालता गया, मगर शकूर बगैर कुछ नोटिस लिए चादर उठा नहाने को चल दिया।

दस बजे के क़रीब वह हमीदा के पास आया और बच्चे को प्यार करते हुए बोला :

"दूध नहीं उतरा अभी ?"

एक बार तो हमीदा का दिल भी कांप उठा, फिर रुककर बोली, "अभी तो नहीं उतरा। चची कहती थी खिलाई-पिलाई ज़्यादा हो तो

जनाई से पहले ही दूध टपकने लगता है, नहीं तो···" वह रुक गई।

"अच्छा !" वह हंसकर बोला, "शाम को वापसी में तेरे लिए मेवा लेता आऊंगा। अच्छा, अब जाऊं ? इन्तजाम करने वाले मेरी राह देख रहे होंगे, और फिर मुझे भी तो आज घर आने की जल्दी है ना !" वह हंसता हुआ उठा और हमीदा और बच्चे के गालों पर एकसाथ प्यार करता हुआ चल दिया।

शकूर के जूतों की पट-पट दूर होती गई और हमीदा का दिल उसी रफ़्तार से थमता गया, और फिर सहमकर धीरे-धीरे धड़कने लगा धक्, धक्, धक।···

उसने पहलू में पड़े हुए बच्चे की तरफ़ देखा। सुर्ख-सुर्ख चेहरा, काले-काले बाल माथे पर बिखरकर रह गए थे। सूखे-सूखे, नन्हे-नन्हे होंठ। वह दुनिया की हर हसरत और गम से दूर बड़े आराम से मां के पहलू में लेटा हुआ था। फिर आहिस्ता-आहिस्ता उसका सुर्ख चेहरा मां की आंखों से ओझल होता गया, और फिर उसकी जगह एक थैली बाक़ी रह गई— थैली ! जिसमें रुपये ही रुपये भरे हुए थे।······

'···देख हमीदा, यह सोच-विचार करने का वक़्त नहीं है। ऐसी बातों पर ज्यादा सोचा नहीं करते। तू जानती है, इस वक़्त तू एक ऐसे ख़ज़ाने की मालिक है कि पलक झपकते ही तेरे पास पांच सौ रुपये होंगे, और जरा यह सोच कि इन पांच सौ रुपयों से तू क्या-क्या काम ले सकती है। इनसे शकूर कपड़े की दुकान खोल सकता है। खिलौनों की दुकान लगा सकता है। चाहे तो किराये का ठेला लगा सकता है। बस पैसा हो, फिर सब कुछ हो सकता है। फिर क्या सोच रही है ?···

'···अरे, बच्चे की तरफ़ देखती क्या है ! तेरा शकूर सलामत रहे, ऐसे कई बच्चे हो जाएंगे ! शहर की डाक्टरनी हर महीने, दूसरे महीने गांव का फेरा लगाती ही है कि हरामी और लावारिस बच्चे ख़रीद ले। भूल गई क्या, 'ताजे' चाचा ने अपना पांच बरस का बच्चा किस मज़े से बेच दिया था। उनके ऊपर भी छ: बच्चे थे तो क्या फ़र्क़ पड़ता है ? तुझे

भी और हो जाएंगे। मगर इस वक़्त तो तुझे अपने मियां के लिए रुपया चाहिए। उसकी सेहत, उसकी हालत तुझे दिखाई नहीं देती ? बंद क़ब्र में लेटे रहने से उसका चेहरा कितना पीला पड़ गया है। उसकी छाती जो पहले इतनी चौड़ी-चकली थी, कैसे सिमटकर रह गई है ! और जब बारह घंटों बाद क़ब्र से निकलकर आता है तो कैसा मुर्दा-मुर्दा दिखाई देता है कि अब मरा कि अब मरा ! सोचने का वक़्त नहीं, हमीदा ! गुज़री घड़ी न कभी पलटकर आई है, न आती है। चल उठ, फिर सोच क्या रही है ? बच्चे की याद आएगी, वेवा से खाली कोख कहीं अच्छी होती है, हमीदा ! फिर यह क्या जरूरी है हमीदा, कि तू खाली कोख ही रहे। एक बार पेड़ फल देना शुरू कर दे तो फिर रुकता नहीं। अब तुझपर बहार आ रही है, फिर यह वसवसे (शंकाएं) कैसे ? मुसलमान का बच्चा और ईसाइयों के हाथ पड़ जाए। यह बात सता रही है तुझे ? ऊहं ! तेरे खुदा ने तेरे साथ कौन बड़ा अच्छा सलूक किया है कि तुझे मजहब की पड़ी है ! अरे, सबसे बड़ा मजहब पैसा है, पैसा ! यहां आकर सारे मज़हब-वज़हब खत्म हो जाते हैं। ईसाइयों में रहकर भी वह तेरा बेटा ही रहेगा। याद-वाद का मत सोच, हमीदा ! औरत के सुहाग पर बन जाए तो फिर वह औलाद को देखती है न खुद अपनी ज़िन्दगी को ! फिर तू क्या सोच रही है ? यह न भूल कि ऐसे मौक़े बार-बार न आएंगे। तू थोड़ी देर को यह सोचकर तसल्ली दे ले कि तुझे अभी औलाद हुई ही नहीं है। जैसी सात साल से थी, वैसी अब भी है। चैन नहीं आता ? दिल पर पत्थर रख ले हमीदा, सब कुछ भूल जाएगी। एक पल में फ़ैसला कर ले, तुझे अपनी कौन-सी चीज ज्यादा प्यारी है—फूलों की तरह लहकता-महकता सुहाग, या बच्चा ? जीवन-मरण का साथी, या यह भरी कोख ? शौहर या औलाद ? शौहर, जिसके दम से औलाद होती है। औलाद शौहर नहीं दिला सकती, हां, शौहर··· '

हमीदा ने तड़पकर कानों पर हाथ रख लिए। दिल की आवाज़ को और ज़्यादा सुनते रहने की उसमें ताब न थी।

'मुझे अपना शौहर ज्यादा प्यारा है। मुझे अपने सुहाग के फूल ज़्यादा

अज़ीज है'''मुझे'''मुझे''' ' उसने अपना दिल दबोच लिया।

लड़खड़ाते क़दमों से वह उठी। बच्चे को पैदा हुए अभी कुल चार—पाच घंटे ही हुए थे। अभी नन्हे के जिस्म की वह क़ुदरती नमी सूख भी न पाई थी। अभी उसकी आखें भी नहीं खुली थी। अभी उसने मां की छातियो का रस भी नही पिया था और वह दूर किया जा रहा था।

हमीदा ने अपनी साड़ी के आंचल में उसे अच्छी तरह लपेट लिया। दरवाजे से झांककर देखा तो चची बावर्चीखाने में बैठी फूंके मार रही थी। उसकी पीठ आंगन की तरफ़ थी। हमीदा ने शुक्र की सांस ली और डोलते क़दमों से आंगन से निकल गई। बाहर निकलकर उसने एक सांस ली। थोड़ी देर रुकी, फिर चलने लगी। लावारिस और यतीम बच्चे ख़रीदने वाली डाक्टरनी बड़े ज़मींदारजी के घर के बाजू वाले लाल घर में ठहरा करती थी। हमीदा ने धीरे-धीरे उधर ही अपने क़दम बढ़ाने शुरू कर दिए। थोड़ी दूर चलने पर ही उसकी सास फूलने लगी। मगर वह दिल को संभाले (दिल, जो उसके पहलू में था; और दिल, जो उसकी छाती से भी चिमटा हुआ था!) बढ़ती ही गई।

सामने ही लाल दरवाजा दिखाई दे रहा था। उसके क़दमों में तेज़ी आ गई और वह कमजोरी के बावुजूद चल पड़ी। बरामदे में ईसाई डाक्टरनी 'निटिंग' (बुनाई) कर रही थी। हमीदा को आते देखकर उसने मुस्कराकर ऊन के गोले और सलाइयां पास पड़ी तिपाई पर रख दी। हमीदा ने मुंह से एक लफ़्ज़ भी न कहा, धीरे से कुर्सी पर उस नन्ही-सी जान को लिटा दिया और डाक्टरनी के आगे हाथ फैला दिया।

"मेरी ममता की कीमत ?" भिंची हुई आवाज़ बस इतना ही कह सकी। डाक्टरनी ने चश्मे की ओट से उसे देखा और पूछा, "हराम का है ?" हमीदा के चेहरे पर जहर-भरी मुस्कराहट छा गई, "हराम-हलाल से फ़र्क़ नहीं पड़ता मालकिन, मोहब्बत तो वही रहेगी, चाहे माथे पर बद-नामी का टीका हो या चढ़ावे का झूमर !"

डाक्टरनी ने हंसकर उसे देखा, फिर उठकर कुर्सी तक आई और कपड़ा

हटाकर बोली :

"अरे, बेटा है !"

हमीदा का दिल उछलकर मुंह में आ गया, मगर वह मुंह से कुछ न बोली।

"क्या लोगी ?" वह फिर कुर्सी पर बैठते हुए बोली।

'यह तेरी कैसी खुदाई है मौला, जहां पेट की औलाद की भी बोली उठाई जाती है !' हमीदा ने सोचा और फिर धीरे से बोली :

"पांच सौ से कम नहीं, ज्यादा जो आपके दिल में आए।"

डाक्टरनी ने एक नजर उसपर डाली और बोली :

"कई बार तो हमें मुफ़्त में बच्चे मिल जाया करते हैं।"

"मैंने इसपर कोई एतराज तो नहीं किया। मैं अपनी बात कह रही हूं। यह मेरी पहली औलाद है, वह सूरज, जो सात साल बाद घोर अंधेरे में चमका है—मगर मैं फिर अंधेरा अपना रही हूं।" वह झुकी और डाक्टरनी की आंखों में देखकर बोली, "मालकिन, कोई मां अपने बच्चे को खुद से जुदा नहीं करती—नहीं कर सकती—मगर करती है, तो सिर्फ़ सुहाग की खातिर ! मेरा शौहर हर पन्द्रह दिन बाद कब्र में सोता है, तमाशा बनता है, ताकि पैसा कमा सके। अगर वह और यही करता रहा तो एक दिन फट से मर जाएगा। उसकी सेहत बिलकुल तबाह हो रही है, मगर वह सुनता ही नहीं। मेरी खातिर, मेरे बच्चे की खातिर वह बस यही चाहता है कि पैसा कमाए। मैंने सोचा, मैं भी तो पैसा कमा सकती हूं। औरत क्या नहीं कर सकती मालकिन ? बस छाती पर पत्थर रखने की बात है।" उसकी सांस बोझिल हो गई।

डाक्टरनी ने और कुछ नहीं कहा, उठकर कमरे के अन्दर चली गई और वापस आई तो उसके हाथों में कड़कड़ाते नोटों का एक बंडल था।

हमीदा ने नोटों को देखा और फिर कुर्सी पर पड़े बच्चे को, और फिर एकदम वहां से नजरें हटा लीं। बड़ी देर बाद वह बोली :

"मालकिन, आप यहां कब तक रहेंगी ?"

"मैं आज शाम को ही जा रही हूं। चार बच्चे और भी मेरे साथ हैं।" वह उसे मुत्तमइन (आश्वस्त) करने को बोली।

"आज शाम को ही?" हमीदा का दिल टूट गया।

"अच्छा ही तो है ना, वर्ना जितने दिन देखती रहोगी, खाहमखाह दिल अटकता रहेगा।"

हमीदा ने दोनों हाथों से अपने को दबोच लिया। डाक्टरनी ने उसे देखा और जैसे समझकर बोली :

"दूध का जोर हो रहा है तो पिला दो।"

"नहीं," हमीदा मजबूती से बोली, "मैं इसे दूध नहीं पिलाऊंगी।"

"क्यों?" डाक्टरनी ने हैरान होकर पूछा।

"मालकिन!" वह भिचंती हुई आवाज से बोली, "एक मां जब अपनी छाती से अपनी औलाद को ममता का रस पिला देती है, तो यह मोहब्बत बिल्कुल ही अटूट और न बिछुड़ने वाली हो जाती है। दूध की धार मां की छाती से निकलकर बच्चे के मुंह में पड़ते ही तो दोनों के बीच एक वास्ता हो जाता है, एक खामोश मुआहिदा, कि मेरे बच्चे, मैं तुझे हमेशा अपनी छातियों का रस पिलाती रहूंगी! मैं···मैं अपने बच्चे से ऐसा झूठा वायदा कैसे कर लूं, मालकिन?" उसकी धुंधली आंखों से आंसू झर-झर बह निकले।

हमीदा ने धीरे से नोट थामे, और पलट गई। दरवाजे के पास जाकर वह रुकी, फिर दौड़ती हुई बच्चे के पास आ गई। बच्चा बेखबर सो रहा था। वह तड़पकर बोली :

"मालकिन, आप इसे कैसे पालेंगी? क्या पिलाएंगी?"

डाक्टरनी ज़रा दुःख से मुस्कराकर बोली, "आखिर मैं भी डाक्टरनी हूं, और कई बच्चे हासिल कर चुकी हूं! दिल छोटा न करो, तुम्हारा बच्चा बिलकुल अच्छा रहेगा।"

"मालकिन!" वह फिर से बोली, "मैं भी अगर स्टेशन तक आपके साथ चलूं तो?"

"मुझे क्या एतराज हो सकता है। हां, तुम अपने दिल का सोचो !"

हमीदा वहीं घुटनों में सिर दबाकर बैठ गई। उसकी आंखों के आगे स्याह धब्बे-से नाचने लगे। कच्ची जच्चा, इतनी दूर की थकन, और सबसे बढ़कर बच्चे की जुदाई। उसका जोड़-जोड़ दुःख रहा था।

घोड़ागाड़ी दरवाजे से लगी, और फिर वे सब स्टेशन पहुंच गए।

"मालकिन !" वह हिचकियां ले-लेकर बोलने लगी, "आप डाक्टरनी हैं, जानती होंगी कि एक मां कितने कड़े दर्दों के साथ बच्चा पैदा करती है। आपने भी कितने ही बच्चे पैदा करवाए होंगे। आपके पास भी औरत का दिल है। मालकिन, जब-तक नन्हा रोएगा, मेरा दिल कट-कटकर बहा करेगा। आप यह सोच लिया करें मालकिन कि वह मेरा नहीं आपका ···आपका ही बच्चा है !"

रेल छक-छक करती दूर होती जा रही थी। हमीदा की छाती में हल-चल-सी होने लगी। दूध-भरी छातियां नन्हे-मुन्ने होंठों के लम्स (स्पर्श) को बेक़रार थीं और फिर ममता की मारी दो नदियां छल-छल करती उमड़ ही पड़ीं। हमीदा ने सिर नियोहड़ाकर देखा, उसका सब कुछ चला गया था। ख़ाली कोख उसे रह-रहकर डस रही थी। उसने दोनों हाथों से अपनी छातियों को जकड़ लिया—'मेरा बच्चा !'

रेल चली गई, और हमीदा कितनी ही देर तक वहां खड़ी रही। फिर धीरे-धीरे उसे होश आया और कमर में रुपयों की मौजूदगी का एहसास होने लगा—'वह शकूर को क्या मुंह दिखाएगी ? सात बरस उसने जिस लगन से नन्हे मुसाफ़िर की चाहत की, तो क्या इसी दिन के लिए, कि यूं बिछुड़ जाए ! मैं कह दूंगी कि यह सब तुम्हारे लिए ही तो किया है। तुम जियो, मेरे सिर के ताज ! ऐसे कई फूल खिला दोगे। ऐसा ही तुम्हें बच्चे की याद सताए तो···तो मैं क्या कहूंगी ? कौन जाने किस देस को वह मुसाफ़िर गया है ? मैं···मैं क्या करूं ? क्या सोचूं ? दिल बैठा जा रहा है।···

'···अरी दीवानी ! तेरे सिर पर तो ताज-सा जगमगा रहा है। तेरे सिर का ताज सलामत है। तुझे और क्या चाहिए ? कोख फिर भी भर

जाएगी, सुहाग बार-बार कहां मिलता है ! दीवानी, आंसू पोंछ भी ले···पोंछ भी ले !'

तबेले के मैदान के गैस-हिंडोले यहां से साफ नजर आ रहे थे। स्टेशन और मैदान का फ़ासला ही कितना था। जिस दिन शकूर क़ब्र में सोने वाला होता, छोटा-मोटा मेला वहां लग जाता था। रात तो हो ही गई थी, क्यों न वह मैदान तक चली जाए और शकूर को अपने साथ ले ले। घर पहुंचकर खाली कोख देखकर तो उसे बड़ा ही ग़ुस्सा आएगा। यहां रुपये बता दूंगी तो उसे जरा सुकून (शान्ति) मिल जाएगा।

'···हां, यही ठीक है। और अब ये आंसू नहीं बहने चाहिए। अब तो खुशियां आएंगी। काले बादल हट गए रोशनी झांकती आ रही है। अब खाने को पेट-भर रोटी होगी। पहनने को तन-भर कपड़ा···और मुन्ना ! मुन्नों-चुन्नों का क्या है, साल-दो साल में घर भर जाएगा !'

इन्हीं ख्यालों में डूबी वह मैदान के बीचों-बीच पहुंच गई। लोग हिंडोले झुलाते इधर-उधर भाग रहे थे। चीख-चाख मच रही थी। वह अपने कच्चे जख्मों को छुपाए डरी-डरी-सी खड़ी थी कि एकदम कोई उसके करीब से गुज़रा।

"अरे, कोई उसकी चची और बीवी को ख़बर कर दे ! बेचारा क़ब्र में ही घुटकर रह गया। आखिर लाश कैसे घर पहुंचे !"

"हुआ क्या ?" दूसरा आदमी अफ़सोस से पूछ रहा था।

"अरे पता नहीं, भाई, वह शकूर तमाशागर क़ब्र में सोता था कि नहीं ? तो आज हमेशा के लिए ही सो गया। सुबह ही खांस रहा था, और उसकी सेहत भी खराब दिखाई देती थी। मगर पेट बुरा है भाई, क्या करता ! और सुना है, बेचारा आज ही एक बच्चे का बाप भी बना था !"

## नजमा नकहत

१९३६ मे हैदराबाद दक्कन में जन्म लिया। इंटर के बाद शिक्षा छोड़नी पड़ी। १९५३ में लखनऊ के क़िदवई घराने में व्याह हुआ।

जब से होश संभाला ख़ानदान में वकालत और डाक्टरी के पेशे और चर्चे देखती-सुनती आई हूं। ऐसे वातावरण में उर्दू साहित्य से उन्माद की सीमा तक प्यार करने वाली केवल मैं ही थी। बचपन से कहानियां कहने और सुनने का बड़ा शौक़ था। पहली कहानी दस बरस की आयु में लिखी थी। १९४९ मे उच्च स्तर के पत्रों ने मेरी कहानियां प्रकाशनार्थ स्वीकार करनी शुरू की। केवल कल्पना की सहायता से मैंने

कभी कोई कहानी नहीं लिखी। जिस विषय पर भी लिखना चाहा, दिनों, महीनों और कई बार तो वर्षों मेहनत की। अतएव अपनी एक कहानी के लिए मैंने कुछ दिनों एक दुकान में सेल्ज-गर्ल की हैसियत से काम किया। इसी प्रकार एक अन्य कहानी के लिए हैदराबाद के एक गांव में रहकर सामग्री इकट्ठी की। बरसों से हैदराबाद के 'प्रगतिशील लेखक संघ' की क्रिया-शील सदस्या हूं।

पता : आजम जाही मिल्ज कालोनी, वारंगल (आंध्र प्रदेश)

# दो टके की····

जिन्दगी की सारी खूबसूरती कच्चे रग की तरह छूटती जा रही थी और आधी के बीच जलते-जलते भड़क उठने वाले चिराग की तरह निदा के दिमाग मे भी बार-बार कोई शोला-सा लपकता था; और वह बैठे-बैठे सिर उठाकर खिड़की से बाहर कुछ देखने की कोशिश करने लगती; मगर नीचे सड़क पर चलने वाले राहगीर सफ़ेद धब्बों की तरह नजर आने लगते तो वह फिर सिर झुकाकर बरतन मलने लगती और उन सारी गुत्थियों को दिल ही दिल में सुलझाने लगती, जिनमें उसकी पूरी जिन्दगी उलझी हुई थी। लेकिन लाख जतन करने पर भी इस ताने-बाने का कोई सिरा उसके हाथ न आता था।

उसने लबालब भरी हुई आंखों को ज़ोर से मीच लिया। गर्म-गर्म आंसुओं के क़तरे सामने पड़े हुए थाल पर गिर पड़े। उसने सोचा, उसकी हालत बिलकुल उस मा जैसी है जो अपने बच्चों को बचपन में तो खूब मारती है, तरह-तरह से डराती-धमकाती है, लेकिन बच्चों की जवानी में बेबस होकर ज़िन्दगी के किनारे पड़ रहती है। और यही ख्यालात थे जिन्होंने उसकी जिन्दगी को बिलकुल मोम बना दिया था—जिधर चाहो मोड़ लो ; जहा चाहो बहा दो।

और यही बात थी कि हजार कोसने-गालियों के बावुजूद हर कोई अपनी जगह यही समझता था कि निदा के बिना कोई काम ठीक ढंग से नहीं हो सकता—यह हर रोज ड्योढ़ी का मर्दाना हिस्सा झाड़ना-पोंछना, गुलदानों में ताज़ा फूलों की टहनियां सजाना; कालीनों पर ब्रश करना, और बड़ी-सी कपड़े की झटकनी लिए घण्टों संगमरमर के बुत, पीतल की मूर्तियां, क़द-आदम आइने और मखमली सोफ़ों की धूल झाड़ना;

बड़ी साहबजादी के चिड़चिड़े बच्चों को गोद में लादे रहना, और दौड़-दौड़-कर दिन-भर में बीसियों बार मर्दाने हिस्से में हर ऐरे-ग़ैरे को चाय-पानी पहुंचाना और झुक-झुककर तस्लीमात (अभिवादन) करना। हर उलटे-सीधे हुक्म पर सिर झुका देना और बड़े सरकार से लेकर ड्योढ़ी के भेड़ियों-ऐसे कुत्तों तक से बातचीत के पूरे आदाब का लिहाज़ रखना—और फिर रातों को जाग-जागकर बड़ी साहबजादी के न जाने कितने बच्चो को दूध बनाकर पिलाने और पेशाब कराने तक के सभी फ़र्ज उस-पर लागू होते थे।

और वह सुबह-सवेरे सब्र से मुस्करा-मुस्कराकर उन खूबसूरत मूर्तियों को देखती जो एक ही अंदाज में खड़ी-खड़ी थक गई थीं और बरसों से एक ही तरफ़ देखते-देखते जिनकी आंखें पथरा गई थीं। दरवाजे के क़रीब बैठा हुआ वह बूढ़ा किसी गहरी सोच में डूबा रहता। माथे की मोटी-मोटी उभरी हुई नसो और आंखों के नीचे और किनारों पर पड़ी हुई बारीक-बारीक झुर्रियों में जिन्दगी के कड़े तजुर्बे सिमट आए थे—आइने के सामने खड़ी वह जवान लड़की अपने नंगे बदन को एक छोटे-से दोशाले में छुपाने की बेकार कोशिश कर रही थी—उसकी झुकी हुई पलकों और तराशे हुए होंठो पर निदा बड़ी एहतियात से अपनी उंगलियां रख देती—'छुपा लो···अपने कोमल बदन को इन जलील नज़रों की ज़द से, जिनके तीर सीधे तुम्हारी तरफ फेंके जा रहे हैं और तुम इस वक़्त कितनी मजबूर हो—कितनी सहमी खड़ी हो!···'

निदा को वह लड़की बहुत पसद थी, जिसे पीतल की धात मे समो लिया गया था; जो अपने प्रेमी के गले में बांहें डाले उसे टुकर-टुकर देखे जा रही थी—उसके प्यार मे कितनी गंभीरता थी! वह ड्राइंगरूम में आने-जाने वालों की परवा किए बग़ैर अपने सुन्दर सपनों में खोई खड़ी थी—माथे से मज़बूत इरादा झलकता था, और भिंचे हुए होंठ सुन्दर मुस्तक़बिल (भविष्य) की गवाही देते थे। 'कितनी निडर है यह!' निदा अक्सर सोचती।

और कोने में खड़ी भिखारिन तो हर वक्त आंखें उठाए दरवाजे को तके जाती थी। चेहरे पर दुनिया-भर का दुःख-दर्द लिए, एक हाथ से फटा-पुराना आंचल उठाए—जाने किसके इंतजार में बरसों से खड़ी थी!

क्या इसे अब भी यह उम्मीद है कि कोई अचानक इन अंधेरों में उजाला घोलने चला आएगा। उसे बीते युगों के मारे दर्दीले सपनों के सुहले स्वप्नफल सौंप देगा। उसको एक साफ-सुथरी खूबसूरत जिन्दगी की जमानत देने आएगा—क्या अब भी?

जैसे वह इन सारी बेजान मूर्तियों की भाषा समझती थी, वह उनसे चुपके-चुपके अपने दुःख-दर्द बयान करती और उनके दुःखों को सुनती—और ऐसे में छोटी साहबजादी गले की पूरी ताक़त के साथ चिल्लाती तो वह झटकनी फेंककर यों बाहर को लपकी आती जैसे 'सिंदबाद वाली मौत की वादी' से उसका नाम पुकारा गया हो।

यों हर इशारे पर नाचते-नाचते वह थक गई थी और बरबस उसका जी चाहता था कि जाकर वह भी उन मूर्तियों में खड़ी हो जाए और बरसों तक एक ही कोण से खड़ी रहे, और कोई बड़े चाव से उसपर पड़ी गर्द झाड़ने आए।

जैसे शायर अपनी नई गजल सुनाने के लिए परेशान रहता है, उसी तरह छोटी साहबजादी अपना नया रोमांस सुनाने के लिए ड्योढ़ी के कोने-कोने में उसे ढूंढ़ती फिरती और जब निदा सब-कुछ सुनकर हैरान-सी चुपचाप पलकें झपकाया करती तो छटी साहबजादी क़हक़हा लगाकर उससे लिपट जाती और थोड़ी-सी देर को अंधेरे-उजाले का फ़र्क मिट जाता, लेकिन बाहर आते ही फिर झूठे बरतन और चाय की खाली प्यालियां उसका मुंह चिढ़ाने लगतीं।

बड़ी साहबजादी की ज़बान कुड़कमुर्गी की तरह सारा दिन कट-कट किए जाती। बात-बात में निदा को कोसना और गालियां देना जैसे उसकी 'हॉबी' थी! बच्चों को घुड़कना, मार-पीट और फिर बच्चों की चीख़-पुकार, आंसू और सिसकियां—ये सब जिन्दगी को उकताहटों से

भरकर ड्योढ़ी में क़ैद कर देते।

"हाय अल्लाह! ड्योढियों के बच्चे भी कोई बच्चे हैं! मां-बाप के होते-सोते चेहरे पर यतीमी बरसती है। आयाओं और मामाओं से चिपटे-चिपटे बचपन गुज़र जाता है।" बुआ दमे से सुता हुआ झुर्रियों-भरा चेहरा उठाकर होंठों ही होंठों में बड़बड़ातीं।

"करें भी क्या?" शम्भू बुआ के बटुए से तम्बाकू हथेली पर निकाल-कर अपनी राय ज़ाहिर करता, "बाप को बाहर की 'हौ-हप' से छुट्टी नहीं—मां छोटे सरकार की करतूतों से बेज़ार हर वक्त बैठी कुढा करती हैं, और बेगम साहबा को तो हर वक्त गुर्दों का दर्द और दिल की कमज़ोरी खाए जाती है। जब मा-बाप का यह हाल है तो आख़िर इन बच्चों की देख-भाल कोई कहां तक करता फिरे!" ज़रा-सी आहट पाकर बुआ होंठों पर उगली रख देती, और शम्भू जल्दी-जल्दी अपनी टोपी ठीक करके छाती पर हाथ बांध लेता।

गिदा जब से यहा आई थी, रोज़ यही ड्रामे देखा करती थी। इन पाच बरसो में उसे सारी ढकी-छुपी बाते समझने का सलीक़ा आ गया था। किसीकी जबान से निकला हुआ एक वाक्य सारा दिल खोलकर उसके सामने रख देता, मगर वह सब कुछ समझकर भी अनजान बनी यों गुजर जाती जैसे मेह की बूंदों से भरे बादल बिना बरसे सरकते चले जाते है। गाव में एक बार चची के साथ वह कठपुतलियों का नाटक देखने गई थी। धज्जियों से बनीं बेजान पुतलिया सारे काम करती थीं, और लोग कहते थे कि मचान पर बैठा नाटक का मालिक इन सारी पुतलियों के हाथ-पाव और सिर मे बंधे धागे अपने हाथ मे लिए नचाया करता है, और क्या मजाल कि ये पुतलिया अपनी मनमानी कर जाएं!···

बस, छोटे सरकार भी उसको नाटक के मालिक ही दिखाई देते थे जिनकी मुट्ठी में ड्योढ़ी में रहने वालों के धागे दबे हुए थे और ये सारे लोग उनके इशारों से चलते-फिरते थे।

रोज की दांता-किलकिल से बेज़ार वह बाग में नीम के पेड़ के तले

भी सुबह नाश्ते पर खाई होगी—ऐं ?

"देख निदा, सच बताना। मैं अगली ईद पर तुझे जाली का कुर्ता और अतलस का पाजामा बनवा दूंगी।"

और निदा जाली के कुर्ते और अतलस के पायजामे को बिलकुल नजर-अदांज कर देती—भला हर घंटे नई-नई खबरें कहां से लाए ?

"या पाक परवरदिगार ! या बीबी फातिमा ! इस चुड़ैल को ड्योढी ही से दफ़ा करियो—मुई सौतेली औलाद से निजात दिलाइयो—मेरी बच्ची का हक मारे बैठे हैं मिटिया-मिले।"

और बेगम को सूखी आंखें बार-बार पोंछते और रोनी आवाज निकालने देखकर निदा को तरस आ जाता—'चच् ! चच् !! बेचारी ने कभी इस शानदार घर पर हुकूमत की होगी, और आज दालान में पड़ी अमचूर की तरह सूखी जाती है।'

बड़ी साहबजादी के डर से कोई दो वक्त खाना देने के अलावा उनके करीब न फटकता था। बस दो मामाए उनकी देखभाल के लिए हर वक्त पास होतीं, जिनसे वे अपने दिल के सारे राज उगल चुकी थीं, और अब उनके कोई तीसरा आदमी न मिलता था, जिसके सामने वह अपने दिल की भड़ास निकाल सकती।

छोटी साहबजादी ज्यादातर बहन का हुक्म मानती थी, इसलिए भी कि उनके सामने जबान हिलाने का मतलब यह था कि सारे ठाट-बाट छोड़कर अम्मांजान की तरह दालान मे पड़े-पड़े खाओ, और दीवारों से सिर फोड़-फोड़कर मर जाओ।

इन सारी घरेलू उलझनों और चख-पख की बदबूदार फिज़ा (वातावरण) में निदा की सांस घुटने लगती; और जब रात-रात-भर दुलहा मियां बड़ी साहबजादी की सिसकियों के बीच किए गए सवालों के जवाब मे बेढंगेपन से गरजते, तो यों लगता जैसे ड्योढ़ी के पिछवाड़े बबूल के मैदान मे कोई अनदेखा हाथ बड़ी चट्टाने लुढ़का रहा है—धन ! ···धना-धन !!

फिर हल्की-हल्की चीखों और सिसकियों का सिलसिला शुरू हो जाता

और चन्दन की खूबसूरत मसहरी पर बड़ी साहबजादी पड़ी देर तक तड़पा करती। कमरे की फिज़ा बोझिल हो जाती और छोटे सरकार उस वक़्त निदा को पुकारते तो निदा को यों महसूस होता जैसे किसी बेहूदा बच्चे ने आधी रात की खामोशी में घर की दहलीज़ पर पटाखा खेंच मारा हो।···

"हाय, तो क्या सचमुच दुल्हा मियां बीवी पर हाथ भी उठाते हैं ?" सुबह बेगम अपनी मामाओं से हैरानी और खुशी के मिले-जुले सुर में पूछतीं और मामाएं उनके चेहरे की रौनक देखकर दंग रह जातीं—शायद वे क़ब्र में लटकाए पैर बाहर खेंच लें !

निदा सबकी राज़दार थी। वो सारे जानदार, जो ड्योढ़ी में बसते थे, अपना दु:ख-दर्द निदा की झोली में डालकर निश्चिंत हो जाते और निदा अपने दिल की गहराइयों में उनकी हसरतों और तमन्नाओं के कफन जमा करती जाती !···

मगर इन सारी बातों के बावुजूद निदा उस घर की जरखरीद लौंडी थी। ज़रा-ज़रा से कुसूर पर गालियों और डांट-फटकार के साथ-साथ कभी-कभार की मार-पीट ने उसे और भी कमज़ोर और हेठी बना दिया था। हर वक़्त वह मुरझाए हुए पत्ते की तरह कांपती रहती। इस घर का तो हिसाब ही निराला है ! जाने कब आफ़त आ जाए ! यों भी छोटे सरकार जब गालियां देते हुए उसपर झपटते तो वह घायल परिंदे की तरह उनके हाथ में आ जाती थी।

एक घर उसके अपने दिल और दिमाग़ में भी बसा हुआ था। एक छोटा-सा घर—आंगन में अंगूर की बेलों का मंडवा और फूलों की क्यारियां—रंग-बिरंगे नाजुक फूल, जो जरा से हवा के झोंके से झूम-झूम जाएं; छोटी-छोटी रंगीन कलियां, जो शर्मा-शर्माकर धीरे-धीरे मुस्करा पड़ें।

उस घर में लड़ाई-झगड़ों की कोई गुन्जाइश न थी। एक शिफ़्फू था, जो उसके पूरे तसव्वुर (कल्पना) पर अंगूर की बेल की तरह छा गया था।

सोचते-सोचते उसकी आंखें धुंधला जातीं—उस बीते ज़माने को सोचने

के लिए उसे कभी दिमाग पर जोर डालने की ज़रूरत न पड़ती···

···वह नन्ही-सी लड़की—जो कभी-कभार प्यार-भरी डाट का एक लफ़्ज़ सुनकर भी बिसूरने लगती और देर तक आंगन में औंधी पड़ी सोंधी मिट्टी पर मुंह रखे सिसकती रहती थी।

···मा ज़रा-सी जान को अपने पीछे दर-दर की ठोकरें खाने को छोड़ गई, और बाप पड़ोस की किसी लड़की के इश्क में ऐसा मगन हुआ कि अब तक दोनों का कही पता न मिल सका।

···वह जरा-सी बच्ची, जिसके सिर पर किसीका लाड़-भरा हाथ न रहा था, हर किसीने जमीन पर रेंगने वाले कीड़े-मकोड़े की तरह उसे नजर-अंदाज कर दिया।

···चची गांव से मा के पुर्से को आई तो घर के बरतनों, खाटों और कपड़ों के साथ उसको भी बगल मे दबाकर ले गई—और तब से जैसे जिन्दगी की सारी छोटी-बड़ी ख्वाहिशें उससे अलग हो गई।

···जब जरा होश आया और आंखें खोलकर दुनिया को देखना चाहा तो कधे पर रखे हुए जुए के बोझ तले दबकर कुछ याद न रहा। दिन-भर बैल की तरह गरदन झुकाए वह काम-काज में लगी रहती—जरा-सा काम रह जाता तो चची की इजन की सीटी की सी आवाज़ चिल्लाती :

"अरी कलमुई ! यह तो सोच कि घूरे पर पड़े हुए कीड़े की तरह सिसक-सिसककर मर जाती जो मैं तुझे उठाकर न लाती ! ए लो, जिसने पैदा किया उस बाप को रहम न आया—मैं तो खैर चची थी ! आजकल मुसीबत मे कौन किसके आड़े आता है। क्या मेरे एहसान का यही बदला है ? खुद न खाया तुझे खिलाया, खुद न पहना तुझे पहनाया —यही सोचा था कि आगे चलकर काम आएगी—मगर तोबा है अल्लाह ! मेरी ही अक़्ल खराब हुई थी ! ···"

निदा अच्छी तरह जानती थी कि चची उसे क्या खिलाती थी और क्या पहनाती थी। उसकी मा के वो सारे रेशमी कपड़े, जो न जाने अच्छे दिनों में किस तकलीफ़ से नानी ने बेटी के ब्याह में दिए थे, जिनसे उसकी

मा के प्यार-भरे बदन की महक आती थी, चची ने अपनी बेटी के जहेज़ मे रख दिए थे।

···दिन-भर के सारे काम-काज को जल्दी-जल्दी निवटाकर जब वह छप्पर तले बरामदे मे आकर लेटती तो उसके दिल को तरह-तरह के ख़्यालात कचौके देने लगते और वह मुह पर दुपट्टा डालकर फफक उठती। उससे ज्यादा तो घर की उस मुर्गी को माना जाता था जिसे सुबह-सवेरे चची अपने हाथ से दाना-पानी डालती थी। उसके होठ हंसना भूल गए थे।

···लेकिन फिर जब सामने के कच्चे मकान वाला शिफ्फू चची से मिलने के बहाने उनके यहां आने-जाने लगा, और चची की नज़रें बचाकर उसका भी हाल-चाल पूछने लगा तो निदा ने अंधे की लाठी की तरह उसका सहारा लेना चाहा। वह रात चौक-चौंककर उठ बैठती। सपने देखती कि पहाड के दामन मे दूर तक सितारों जैसे फूल खिले हैं और निदा—अकेली निदा किसीको खोज रही है। बार-बार पहाड की चोटी पर चढ़ती है, और फिर कोई जबरदस्त ताकत उसे नीचे लुढ़का देती है—आसमान पर चाद की जगह शिफ्फू का चेहरा चमकने लगता है···और वह चिल्लाने लगती, 'शिफ़्फ़ू, नीचे आ जाओ! शिफ़्फ़ू···शिफ़्फ़ू!'

और एक दिन धमाके से उसकी आख खुल गई। चची उसे धौल जमाकर दहाड रही थी, "क्यों री कुटनी! सात पर्दों मे रहकर भी यह गुल खिलाया! खुदा ग़ारत करे उस घड़ी को, जब मै तुझे अपने घर लाई थी!···" और फिर चची के धमोके ने उसे अधमुआ कर दिया—और फिर जल्द ही अपने कर्ज़ का बोझ उतारने के लिए निदा को शहर की इस आलीशान ड्योढी में जरखरीद लौंडी बना दिया गया।

वही हुक्म, वही पाबदिया, वही खाने-कपड़े का अहसान और वही गालियो और कोसनो का बोझा अपने कधों पर उठाए वह जिन्दगी के गदे, पथरीले ऊबड़-खाबड़ रास्ते पर डगमगाती बढ़ती जा रही थी—फ़र्क़ सिर्फ यह था कि वहां एक चची थी, और यहां जैसे चची ने जगह-जगह

अपनी मूर्तियां गाड दी थी।···

जब कभी छोटी साहबज़ादी उसको अख़बार पढ़कर सुनाती और दुनिया में होने वाली घटनाओं-दुर्घटनाओं का ज़िक्र आता तो वह सहम-सहम जाती—'हाय, हाय! हुकूमत ने तो जागीरदारी खत्म कर देने की बात चलाई है—मगर इतने सारे जागीरदार आखिर करेंगे क्या? तभी तो दुलहा भाई खोए-खोए फिरते हैं—आखिर हुकूमत को यह क्या सूझी है! देख निदा! बेगम साहब से मत कहना, उनका तो हार्ट-फेल हो जाएगा!"

बहुत दिन से वह इस किस्म की तब्दीलियों की खबरें सुन रही थी, मगर उसकी ज़िन्दगी में तो कोई तब्दीली नहीं आई थी और वह परेशान कर सोचती, 'यह दुनिया तो उसी ढर्रे पर रेंग रही है—तब्दीली कहां है? कहा है?'

शायद ये ड्योढ़ियां हमेशा अपनी ऊंची-ऊंची दीवारों की ढाल से तब्दीलियों के हमले रोकती रही है। अगर कोई छोटी-मोटी तब्दीली धीरे-धीरे रेंगकर अन्दर आ भी जाए तो भी निदा और निदा जैसी अनगिनत ज़र-खरीद छोकरियों पर इसका कुछ असर न होगा। वो इसी तरह कंधे पर अपनी ज़िन्दगी की लाश उठाए इन शानदार मकबरों में घूमती-फिरती रहेंगी—उनसे कोई नहीं पूछेगा कि ज़िन्दगी क्या है—घर क्यों बनते हैं, घर बसाने, ब्याह करने और नन्हे-नन्हे बच्चों को जन्म देने का क्या मतलब है!···

'···ऐ है, बस यही तो उम्र है—मरने के बाद फिर कहां ज़िन्दगी मिलेगी। फिर छोटे-से घर की तमन्ना—शिफ़्फू के साथ मिल बैठने और क़हक़हे लगाने की आरज़ू कैसे पूरी होगी!···यह छोटी-सी ज़िन्दगी भी तो सिर्फ़ कांटों-भरा बिस्तर है, जिसपर पड़े-पड़े ज़ख्मी आरज़ूएं तड़प-तड़पकर कराहती हैं···'

मगर आज जब छोटे सरकार ने इक ज़रा-से गुलदान टूट जाने पर 'दो टके की बांदी' का ताना दिया तो वह तनकर खड़ी हो गई, आंखों में

शोले-से लपक आए, और उसने छोटी साहबजादी को जा झंझोड़ा—"तब्दीली कहां है ? कहां है तब्दीली ?"

छोटी साहबजादी ने उसे समझाने के लिए मोटी-सी बात यह बताई कि बादशाहत जागीरदारी की मां है, लेकिन अब चूंकि यह मां मर गई है इसलिए अब कोई जागीरदारी के लाड-प्यार सहने वाला नहीं रहेगा। बुरे बच्चों की बुराइयों को उनकी मां ही बर्दाश्त करती है, पराये लोग तो बुराइयों पर खूब मार-कूटकर सीधा कर देते हैं—और यह बात बड़ी आसानी से निदा के दिल में बैठ गई। अच्छा ही हुआ कि बुराइयां मिटने के दिन आ गए ! वह मां कितनी बुरी है, जो औलाद की बुराइयों की पीठ थपककर हजारों घर तबाह करती है। आज छोटे सरकार के ज़हर में बुझे तीर 'दो टके की···' ने उसके दिल के साथ-साथ पाबंदियों की मज़बूत दीवारों में भी दरारें डाल दी थी; और उन दरारों में से उसे उम्मीद की किरनें साफ़ दिखाई दे रही थीं, और दिखाई दे रहा था शिफ़्फ़ू और वह छोटा-सा घर, जिसके आंगन में अंगूर की बेलों का मंडवा था और थीं फूलों-लदी क्यारियां !